दंसण मूलो धम्मो

आत्मधर्म

शाश्वत सुखका मार्गदर्शक आध्यात्मिक मासिक

वीर सं० २४९६ तंत्री-पुरुषोत्तमदास शिवलाल कामदार, भावनगर वर्ष २५ अंक नं० १०

आत्मा का ज्ञानस्वभाव

जिसप्रकार सूर्य जगत के अनेक शुभाशुभ पदार्थों को राग-द्वेष के बिना प्रकाशित करता है, परंतु उनका कर्ता या भोक्ता नहीं होता—ऐसा ही उसका प्रकाशकस्वभाव है; उसीप्रकार ज्ञानसूर्य-आत्मा भी अपनी चैतन्यकिरणों द्वारा शुभाशुभ कर्म के उदय को या निर्जरा को, बंध को या मोक्ष को जानता ही है, परंतु उनका कर्ता-भोक्ता होने का उसका स्वभाव नहीं है। ज्ञान तो ज्ञान ही रहता है।

चारित्र

ज्ञान

दर्शन

श्री दिगंबर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ (सौराष्ट्र)

फरवरी १९७० वार्षिक मूल्य ३) रुपये (२९८) एक अंक २५ पैसा [पौष २४९६

विज्ञप्ति

पूज्य श्री कानजीस्वामी की ८०वीं जन्म-जयंती के उपलक्ष में सोनगढ़ में जो भव्य एवं आदर्श परमागम मंदिर निर्माण कराने का निर्णय किया गया है, उसमें अनेक मुमुक्षुओं की ओर से गाथाएँ उत्कीर्ण कराने के लिये अमुक रकमें लिखवायी जा रही हैं। कुछ भाई-बहिनों ने ऐसी सलाह दी है कि एक-एक गाथा उत्कीर्ण कराने के लिये अमुक रकम तय कर दी जाये तो दान देनेवालों को इस बात का संतोष होगा कि हमने भी इस पवित्र कार्य में अमुक गाथाएँ उत्कीर्ण करवाकर अपना यत्किंचित योगदान दिया है। इस सलाह को ध्यान में लेकर गाथा और उसकी टीका के लिये ५०१) पाँच सौ एक रुपये की रकम निश्चित की गई है।

अभी तक जो रकमें आयी हैं, उनका हिसाब भी एक गाथा-टीका के ५०१) पाँच सौ एक रुपये गिना जायेगा।

जिन मुमुक्षुओं को अपनी ओर से एक पूर्ण गाथा-टीका उत्कीर्ण कराने की भावना हो और जिन्होंने ५०१) पाँच सौ एक रुपये से कम रकम परमागममंदिर हेतु लिखवायी हो, वे बाकी रकम देकर अपनी भावना पूर्ण कर सकते हैं।

लि.—

श्री परमागम मंदिर कमेटी

श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु मंडल-बम्बई

—००—००—

विज्ञप्ति

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट की ओर से श्राविकाशाला के कम्पाउंड में १६×१० साइज के कमरे बनवाने का निर्णय किया गया है। जो महानुभाव अपने नाम के कमरे बनवाना चाहते हों वे निम्नोक्त नियमों एवं शर्तों पर बनवा सकते हैं:—

(१) प्रत्येक कमरे के लिये २००१) रुपये ट्रस्ट को देना होंगे।

(२) कमरे की मालिकी ट्रस्ट की रहेगी।

(३) कमरा बनवानेवाले या उनके स्वजनों को आना हो तो १५ दिन पूर्व सूचना मिलने पर कमरा खाली करवा दिया जायेगा।

(४) कमरा बनवानेवाले जब सोनगढ़ से बाहर जायें तब कमरा ट्रस्ट को सौंपकर जाना होगा। उन्हें अपना सामान रखने के लिये कमरे में ऊपर मचान बनवाकर व्यवस्था कर दी जायेगी।

लि०-

दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट

सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

शाश्वत् सुख का मार्गदर्शक मासिक-पत्र

आत्मधर्म

संपादक : (१) श्री ब्र० गुलाबचंद जैन (२) श्री ब्र० हरिलाल जैन

फरवरी : १९७० ☆ पौष, वीर नि०सं० २४९६, वर्ष २५ वाँ ☆ अंक : १०

मुमुक्षु का मंथन-शुद्धचिद्रूपरत्न

ज्ञेयं दृश्यं न गम्यं मम जगति किमप्यस्ति कार्यं न वाच्यं,
ध्येयं श्रव्यं न लभ्यं न च विशदमते श्रेयमादेयमन्यत्।
श्रीमत्सर्वज्ञवाणी जलनिधिमथनात् शुद्धचिद्रूपरत्नं
यस्मात् लब्धं मयाहो कथमपि विधिनाऽप्राप्तपूर्वं प्रियं च॥१९॥

शुद्धचिद्रूप की प्राप्ति से जिसकी मति स्वच्छ हो गयी है, ऐसे मुझे अब इस जगत में शुद्धचिद्रूप के अलावा न तो कुछ भी जाननेयोग्य है, न देखनेयोग्य है, न गम्य करनेयोग्य है-ढूँढ़ने योग्य है, न तो कोई दूसरा कार्य करनेयोग्य है, न तो कोई दूसरा वाच्य-कहनेयोग्य है, न तो कोई अन्य ध्येय है, न तो कोई अन्य श्रवण करनेयोग्य, न अन्य कुछ लभ्य-प्राप्त करनेयोग्य, न अन्य कुछ भी श्रेय या आश्रय करनेयोग्य, और न तो कोई आदेय-ग्रहण करनेयोग्य; क्योंकि मैंने किसी भी प्रकार से-श्रीमद् सर्वज्ञ की वाणीरूपी जलनिधि के मंथन द्वारा शुद्चिद्रूपरत्न प्राप्त किया है... अहो! पूर्व में कभी प्राप्त न हुआ और प्रिय ऐसा यह शुद्धचिद्रूपरत्न सर्वज्ञदेव की वाणी के मंथन से मुझे प्राप्त हुआ है, फिर मुझे जगत के अन्य कोई भी पदार्थ से क्या प्रयोजन है?

(विशुद्ध मति द्वारा भगवान सर्वज्ञदेव की वाणीरूप श्रुतसमुद्र का मंथन कर-करके किसी भी विधि से-सर्वप्रकार के प्रयत्न द्वारा यह शुद्धचिद्रूपतत्त्व ही जाननेयोग्य है, वही दृश्य है, वही गम्य है, वही कार्य है, वही वाच्य है, वही ध्येय है; वही श्रव्य है, वही लभ्य है, वही श्रेय और आदेय है, वही प्रिय करनेयोग्य है; पूर्व में कभी भी उसकी प्राप्ति नहीं की है।)

धर्मात्मा की ज्ञानचेतना

[ज्ञानस्वभाव को चेते-अनुभव करे, उसका नाम ज्ञानचेतना]

ज्ञानी के हृदय का रहस्य इस प्रवचन-लेख में भरा है। ज्ञानी के अंतर के आत्मभावों को समझने के लिये, उसकी परिणति की पहिचान करने के लिये, तथा अपने में वैसे भाव प्रगट करने के लिये 'धर्मात्मा की ज्ञानचेतना' का मनन आत्मार्थी जीवों को अत्यंत उपयोगी सिद्ध होगा। — संपादक

(समयसार, कलश ३२३-३२४ इत्यादि के प्रवचनों से)

ज्ञानचेतना, यह धर्मात्मा का चिह्न है। ज्ञानचेतना द्वारा धर्मी जीव अपने को निरंतर शुद्धरूप अनुभव करता है। ज्ञानचेतना अपने स्वभाव को स्पर्श करनेवाली है। अमुक शास्त्र का ज्ञान हो तो ज्ञानचेतना कहलाये—ऐसा नहीं; किंतु अपने शुद्धस्वभाव को अनुभवे-स्पर्श करे, उसका नाम ज्ञानचेतना है। ज्ञानचेतना का कार्य अंतर में समाविष्ट है। अंतर के स्वभाव का स्पर्श किये बिना शास्त्रादि का चाहे जितना ज्ञान हो तो भी उसको ज्ञानचेतना कहने में नहीं आता; क्योंकि वह तो राग को स्पर्श करता है—राग का अनुभव करता है।

धर्म का प्रारंभ, मोक्षमार्ग का प्रारंभ तथा सुख का प्रारंभ 'ज्ञानचेतना' से होता है। ज्ञानचेतना अर्थात् शुद्ध आत्मा को अनुभवनेवाली चेतना; उसमें रत्नत्रय समाविष्ट है। इस ज्ञानचेतना का संबंध शास्त्र के अध्ययन के साथ नहीं; ज्ञानचेतना तो अंतर्मुख होकर आत्मा के साक्षात्कार का कार्य करती है। ज्ञानचेतना के बल द्वारा ज्ञानी अल्पकाल में ही केवलज्ञान को आमंत्रित कर लेता है।

ज्ञानचेतना का कार्य विकल्प अथवा वाणी नहीं है। कोई पूछे कि ज्ञानचेतना प्रगट हो जाये तो सभी शास्त्रों के अर्थ का समाधान करना आ जाता होगा, तथा अन्य को उपदेश देकर समझाना आ जाता होगा—यह ज्ञानचेतना का फल है ?

—तो ज्ञानी कहते हैं कि नहीं; ज्ञानचेतना का फल तो यह है कि अपनी आत्मा को चेत ले; आत्मा के स्वसंवेदन को प्रत्यक्ष कर लेना, यह ज्ञानचेतना का फल है। ज्ञानचेतना के फल में

शास्त्र के अर्थ करना आ जाता हो, ऐसा कहीं उसका फल नहीं, किंतु आत्मा के अनुभव का समाधान प्राप्त कर लेता है—ऐसी ज्ञानचेतना है। वह ज्ञानचेतना तो अंतर में अपने आनंदस्वरूप आत्मा को चेतती है। (यह न्याय खास समझनेयोग्य है।)

ज्ञानचेतना का कार्य अंतर में होता है; बाहर में नहीं। कोई जीव शास्त्रों के अर्थ को शृंखलाबद्ध बोलता जाता हो, इससे उसको ज्ञानचेतना प्रगट हो गयी है, ऐसा उसका नाम नहीं, क्योंकि किसी जीव को भाषा का योग नहीं हो तथा कदाचित् ऐसा पर की तरफ का विशेष बोध भी न हो, फिर भी अन्दर ज्ञानचेतना होती है। तथा किसी को कदाचित् ऐसा विशेष बोध भी हो तो भी वह कहीं ज्ञानचेतना की निशानी नहीं। ज्ञानचेतना का कार्य तो अंतर की अनुभूति में है। जिसने ज्ञान को अंतर में मोड़कर राग से भिन्न स्वरूप को अनुभव में ले लिया है, उस जीव को अपूर्व ज्ञानचेतना अंतर में प्रगट हो गयी है। उसकी पहिचान होना जीवों को कठिन है।

भाई, तुझे जन्म-मरण के दुःख दूर करना हों तथा आत्मा का सुख चाहिये तो, ध्यान के विषयरूप ऐसे अपने शुद्धस्वभाव को अनुभव में ले। इस अनुभव में आनंद सहित ज्ञानचेतना प्रगट हो जायेगी। बाहर के अध्ययन के द्वारा ज्ञानचेतना प्रकाशित नहीं होती। अंदर ज्ञानस्वभाव को चेते, अनुभव करे, उसका नाम ज्ञानचेतना। ऐसी ज्ञानचेतना का होना, यह सम्यग्दृष्टि का धर्म है। अज्ञानी अपने को रागरसहित ही चेतता है—अनुभव करता है, वह अज्ञानचेतना है, कर्मचेतना है। जो रागादि अशुद्धता का ही अनुभव करते हैं, उनको राग-द्वेष-मोह रहित जो शुद्धज्ञान, उसके स्वाद की खबर नहीं। धर्मात्मा की ज्ञानचेतना राग से भिन्न अंतर्मुख है; पर्याय में शुद्ध स्वभाव को स्पर्श करके उसका अनुभव किया है। वह चेतना राग का स्पर्श नहीं करती, राग से तो भिन्न ही रहती है। वह ज्ञानचेतना आत्मिकरस से परिपूर्ण है, अतीन्द्रिय आनंद से भरपूर है। धर्मी को आत्मा में आनंद से भरी हुई चैतन्य की लहरें उछलती हैं।

धर्मी ने अंतर में ध्येय बनाकर अपने परिपूर्ण आत्मा को पहिचाना है; वहाँ समस्त जगत को भी जान ले, ऐसा ज्ञान का सामर्थ्य प्रतीति में आ गया है। जीव अखंड ज्ञानस्वभावी है, तो उस ज्ञान का सामर्थ्य अपूर्ण कैसे हो सकता है? पूर्ण सर्वज्ञस्वभाव धर्मी ने अपने में देखा है, वहाँ वह जगत का ज्ञाता हो गया।

ज्ञानस्वरूप आत्मा को जो चेते, वह ज्ञानचेतना; राग के द्वारा ऐसी ज्ञानचेतना प्रगट नहीं होती। राग का तो ज्ञानचेतना में अभाव है। ज्ञानचेतना तो चैतन्यप्रकाश से भरी हुई है।

ज्ञानचेतना के द्वारा शुद्ध आत्मा का ही जो अनुभव करता है, उसको शुद्धता प्रगट होती है तथा अज्ञानचेतनारूप अशुद्धता का जो अनुभव करता है, उसको अशुद्धता ही होती है। इसप्रकार ज्ञानचेतना, वह मोक्षमार्ग तथा अज्ञानचेतना, वह संसारमार्ग है।

चौथे गुणस्थान से ही ज्ञानचेतनारूप मोक्षमार्ग प्रगट हुआ है। ज्ञानचेतना के बिना मोक्षमार्ग होता नहीं। आनंदमय ज्ञानचेतनारूप परिणमन करता हुआ ज्ञानी चैतन्य के प्रशमरस का पान करता है। ज्ञानचेतना आनंद सहित होती है। ज्ञानचेतना प्रगट हो और आनंद का अनुभव नहीं हो, ऐसा बनता नहीं। राग से भिन्न होकर शुद्ध स्वभाव में लीन हो गयी—ऐसी ज्ञानचेतना शुद्ध परिणतिरूप वीतराग वैभवयुक्त है।

अरे, मनुष्यभव प्राप्त करके, ऐसी ज्ञानचेतना प्रगट करने का अवसर है। इस वस्तु को ध्यान में तो ले। सच्चा लक्ष करके उसका पक्ष लेने से उसके अभ्यास में निपुण हो जाने से उसका अनुभव होगा। किंतु लक्ष तथा पक्ष ही जिसके असत्य हों, वह शुद्धता का अनुभव कहाँ से करेगा? अज्ञानी राग का पक्ष करता है—राग से किंचित् लाभ होगा, ऐसा मानकर उसका पक्ष लेता है अर्थात् वह रागादि अशुद्धतारूप ही अपने को अनुभव करता है। धर्मी अपने शुद्धस्वभाव को अनुभवता है—ऐसा शुद्ध अनुभव, वह मोक्षमार्ग है। जो ऐसे शुद्ध अनुभवरूप ज्ञानचेतना रहित होने पर भी अपने को धर्मी माने, उसको धर्म के सच्चे स्वरूप की खबर भी नहीं, धर्म की तथा धर्मी की उसको पहिचान ही नहीं है।

शुद्धचेतना वस्तु रागरहित है; तो उसका अनुभव भी रागरहित का ही होगा। वस्तु रागरूप नहीं है, तथा उसके अनुभव की पर्याय भी रागरूप नहीं है। साधकदशा की भूमिका में राग होता है किंतु उस समय भी धर्मी की चेतना तो राग से पृथक् ही परिणमन करती है। चेतना का तथा राग का कहीं किसी प्रकार का संबंध नहीं है। चेतना तो स्वभाव का स्पर्श करनेवाली है, परभाव को स्पर्श नहीं करती। चौथे गुणस्थान की ज्ञानचेतना तथा केवली भगवान की ज्ञानचेतना, यह दोनों ज्ञानचेतना राग से पृथक् ही हैं। आत्मा के वैभव में एकाग्रता को प्राप्त हुई आनंदमय ज्ञानचेतना तीनों काल के विभावों से मुक्त है। राग-अंश राग में है, चेतना-अंश चेतना में है, दोनों सर्वथा भिन्न अपने-अपने स्वरूप में वर्तते हैं। चेतना में राग का अभाव ही है।

ज्ञानचेतना वाणी को या शास्त्र को प्रकाशित नहीं करती, ज्ञानचेतना तो शुद्ध चैतन्य को प्रकाशित करती है। ऐसी ज्ञानचेतना ही शुद्धता का कारण होती है, राग का अंश शुद्धता का

कारण नहीं होता, वह तो स्वयं ही अशुद्ध है। अशुद्ध कारण के द्वारा शुद्ध कार्य कैसे हो ?—नहीं होता; कारण हमेशा कार्य की जाति का होता है, विरुद्ध नहीं होता। स्वरूप को चेतनेवाली चेतना को ही वास्तव में जीव कहा है, उस चेतना में जीव अपने वास्तविक रूप से प्रकाशमान होता है; राग में शुद्ध जीव प्रकाशित नहीं होता। शुद्ध चेतना में अपार शक्ति है, अकेली वीतरागता ही उसमें भरी है, आनंद उसमें भरा है; वह आनंद का अनुभव करती हुई मोक्ष की ओर दौड़ती है।

ज्ञानचेतना के द्वारा जीव क्या करता है ? कि आनंद का वेदन करता है।

अज्ञानचेतना द्वारा जीव क्या करता है ? कि राग-द्वेष-दु:ख का वेदन करता है।

परभाव के एक अंश का भी ज्ञानचेतना वेदन नहीं करती।

अहा, 'ज्ञानचेतना' की महिमा की जगत को खबर नहीं। जिसको ज्ञानचेतना उत्पन्न हुई, वह आत्मा सर्व परभावों से पृथक् हो गया, वह निजानंद के समुद्र के अनुभव में लीन हो गया। विकल्प से पार ज्ञानचेतना अंदर स्वरूप में प्रवेश कर गयी है; रागादि परभाव तो अनुभव से बाहर रह गये हैं। ऐसी अनुभवदशा जिसको प्रगट हुई, वह ज्ञानी है... उसको भगवती ज्ञानचेतना वर्तती है।

जयवंत वर्तै ज्ञानचेतनावंत ज्ञानी भगवंत!

—००—००—

—: सिद्धों का संदेश :—

जिसको सच्ची श्रद्धा प्रगटे, उसका सारा अंतर ही पलट जाता है, हृदय पलट जाता है, अंतर में उथल-पाथल हो जाती है, अंधे से नेत्रवान हो जाता है! अंतर की ज्योति जागे, उसकी दशा की दिशा ही पलट जाती है, उसे किसी से पूछने नहीं जाना पड़ता, उसका अंतर बेधड़क साक्षी देता है कि हम प्रभु के मार्ग में मिल गये हैं, सिद्धों के संदेश आ चुके हैं, अब अल्पकाल में सिद्ध होकर ही रहेंगे; उसमें अन्य कुछ नहीं हो सकता; कुछ भी फर्क नहीं पड़ सकता।

चैतन्य का चमत्कार

समयसार, कलश १५७ से १६०

[आत्मा नित्य चैतन्य-चमत्काररूप वस्तु है। चैतन्यभाव में जड़ नहीं है, और रागादि आस्त्रवमल भी नहीं है, चैतन्य की चमक राग से और जड़ से भिन्न ही है।]

(१) धर्मी का संवेदन

जो स्वयं नहीं और स्वयं में जो नहीं, ऐसे परद्रव्यों को और क्रोधादि परभावों को धर्मी जीव स्व-रूप से कैसे अनुभव करे ? जिसमें स्वयं वर्त रहा है, जो अपने में है, ऐसी निर्मल ज्ञानदशारूप से धर्मी जीव अपना अनुभव करता है।

(२) धर्मी आनंद का ही संवेदन करते हैं।

शरीर के ऊपर लाठी के प्रहार पड़ते हों या शरीर पर चंदन-विलोपन हो, उनका वेदन जीव को नहीं है, किंतु राग से भिन्न होकर निर्मल परिणति में जो आया, ऐसे धर्मी को अपने ज्ञान-आनंद के सिवा दूसरा कुछ भी वेदन नहीं होता। कारण अपने आत्मा के ज्ञान में अन्य किन्हीं परभावों का प्रवेश ही नहीं है, फिर उनका वेदन ज्ञान में कैसे हो ? ऐसा जो निरपेक्ष आनंदमय ज्ञान वेदन उसके द्वारा ज्ञानी की पहिचान होती है।

(३) सामान्य-विशेष की एकतारूप शुद्धता

जैसा सामान्य शुद्ध द्रव्य ध्रुव है, उसमें स्वोन्मुख होने-एकाग्र होने पर वर्तमान प्रगट पर्याय में भी वैसा ही शुद्ध होकर आत्मा परिणमित हुआ, इसप्रकार सामान्य-विशेष की एकतारूप शुद्धता में बीच में अशुद्धता कहाँ से आवे ? और सामान्य में जो एकाग्र हुई, वह शुद्धपर्याय अशुद्धभावों को कैसे करे ? अर्थात उसे कैसे अनुभवरूप करे ? अशुद्धता से तो उसे अत्यंत भिन्नता है। शुद्ध स्वभावोन्मुख उस पर्याय में अशुद्धता का अभाव है। जिसमें जिसका अभाव है, उसे वह किसप्रकार करे या भोगे ?

(४) सूर्य में अंधेरा नहीं, उसीप्रकार चैतन्यप्रकाश में राग नहीं

अज्ञानी जीव राग और जड़ की क्रिया को अपने ज्ञानस्वरूप में सम्मिलित करना चाहता है अर्थात् उसे अपना कार्य मानता है, तथा उससे अपने ज्ञान को लाभ होने का मानता है। किंतु

जीव स्वयं द्रव्य से तथा अपनी पर्याय से सहज ज्ञानस्वरूप आत्मा ही है, उसमें राग और जड़ का प्रवेश ही नहीं है, जब ऐसा है ही, तब फिर वह राग और जड़ का कार्य अपना (आत्मा का) कैसे हो ? अपना कार्य तो ज्ञानस्वरूप है। सूर्य में अंधेरा नहीं होता, सूर्य का कार्य तो प्रकाश ही होता है; उसीप्रकार चैतन्यसूर्य आत्मा, वह जड़ और रागरूपी अंधकार को करनेवाला नहीं है, वह तो चमकते हुए चैतन्यप्रकाशरूप स्वकार्य को ही करता है।

(५) गुप्त चैतन्य-गृह में राग या जड़ का प्रवेश नहीं

शरीर में रोग हो, वेदना हो, किंतु मेरे चैतन्य में उनका अस्तित्व कहाँ है ? मुझमें उनका प्रवेश ही नहीं है, फिर मुझे उनका भय कैसा ? एक सिंह जो घर से दूर बाहर ही है, वह कुछ सुरक्षित घर में प्रवेश नहीं कर सकता, फिर उसका भय कैसा ? उसीप्रकार धर्मी जीव निर्भयतया अपने चैतन्य घर में सुस्थित ही है; वह ठोस चैतन्य घर किसी से तोड़ा नहीं जा सकता; तथा उसमें अन्य का (राग का या जड़ का) प्रवेश हो नहीं सकता; फिर धर्मी को किसका भय ? वह तो निर्भयता से, नि:शंकता से ज्ञानरूप ही अपने को जानता है—अनुभव करता है। ज्ञान से मैं सदा सत् हूँ, मेरे ज्ञान के अनुभव में ही आनंद है, प्रभुता है, महिमा है, वह स्वयं रक्षित है, अन्य किसी रक्षक की उसे आवश्यकता नहीं।

(६) आत्मा का जीवन चैतन्य से है, शरीर से आत्मा जीवित नहीं रहता।

भगवान आत्मा अतीन्द्रिय महान पदार्थ है; वह चैतन्यप्राण से शाश्वत जीवित रहनेवाला है। जिसने अपना ऐसा अस्तित्व स्वीकार किया है, उसे जड़ इन्द्रिय आदि प्राणों के साथ एकताबुद्धि नहीं रहती, क्योंकि वे जड़ प्राण कहीं आत्मा के जीवन का कारण नहीं हैं। शरीरादि जड़ प्राण तो आत्मा से भिन्न हैं और पृथक् हो जाते हैं। यदि आत्मा उनसे जीवित रहता हो तो आत्मा से वे भिन्न क्यों रहें ? उनके अस्तित्व से कहीं आत्मा का अस्तित्व नहीं। आत्मा का अस्तित्व अपने चैतन्यभावप्राण से ही है; ऐसे चैतन्य जीवन को जिसने देखा, उस सम्यग्दृष्टि को मरण का भय क्यों हो ? मरण ही मेरा नहीं, फिर मरण का भय कैसे ? इसप्रकार धर्मी जीव मरण के भय से रहित नि:शंक तथा निर्भय परिणमन करता है। जगत मरण से भयभीत है—परंतु ज्ञानी को तो आनंद की लहर है, क्योंकि प्रथम से ही अपने को शरीर से भिन्न ही अनुभव करता है।

(७) आनंदमय स्वघर में आत्मा का निवास

आत्मा के स्वघर में जड़-पुद्गल का (इन्द्रिय आदि का) निवास नहीं तथा पुद्गल के

घर में आत्मा का निवास नहीं; शरीर तो पुद्गल का घर है, उसमें आत्मा का निवास नहीं। आत्मा के असंख्यातप्रदेशी स्वघर में ज्ञान तथा आनंदस्वरूप आत्मा का निवास है। ज्ञान-आनंद से भरपूर असंख्यप्रदेश से आत्मा का अस्तित्व है; आत्मा का अस्तित्व राग से या जड़ से नहीं। ऐसे अपने जीवन को अर्थात् ऐसे अस्तित्व को धर्मी जानता है, इसलिये वह स्वघर में निवास करता है। जीव ने अपने ऐसे स्वधर को कभी जाना ही नहीं।

(८) चैतन्य की एकता में अन्य का प्रवेश नहीं

चैतन्यभाव में आत्मा ऐसा अचल है कि शरीरादि जगत के पदार्थों का परिवर्तन हो जाने से उसमें क्षोभ नहीं होता, वह तो अक्षोभरूप सदा अपने चैतन्यरूप में ही रहता है। ऐसे आत्मा को अनुभव में लिया, वहाँ धर्मी जीव को क्षोभ का अभाव है। क्षोभ चैतन्य में कैसा ? संयोग के परिवर्तन से चैतन्य कहीं अन्यथा हो नहीं जाता। उसने तो अपने अविनाशी चैतन्यपद के साथ ऐसी संधि की है कि कभी भिन्न नहीं पड़े। अनादि-अनंत चैतन्यभाव के साथ जो एकता की, वह कभी नहीं छूटती; उसमें चैतन्य के अतिरिक्त अन्य किसी का प्रवेश नहीं कि जो क्षोभ उत्पन्न करे।

(९) ज्ञान-आनंद से आत्मा भिन्न नहीं

जो भिन्न है, वह पृथक् होता हुआ दिखायी देता है। परंतु आत्मा का ज्ञान कभी पृथक् रहता है ? आनंद कभी भिन्न रहता है ? नहीं; आत्मा एक ओर रह जाये और उसका ज्ञान-आनंद दूसरी ओर चला जाये—ऐसा नहीं बनता; क्योंकि ज्ञान और आनंद आत्मा से भिन्न नहीं, आत्मा स्वयं ज्ञान-आनंदस्वरूप है। ऐसे स्वरूप का जिसने अनुभव किया, उसने आनंदमय स्वघर में प्रवेश किया। सादि-अनंत काल अपने निजघर में वह आनंद से रहेगा।

(१०) परिणति आनंद से दौड़ती हुई स्वघर में आती है

पत्थर के मकान, लक्ष्मी अथवा शरीर, यह कहीं आत्मा के साथ सदा नहीं रहते। आज हों और कल न हों—इसप्रकार क्षण में भिन्न होते हुए दिखायी देते हैं—वे एक समय भी आत्मा के साथ एकरूप नहीं रहते। वर्तमान में भी शरीर-लक्ष्मी, यह सब जड़रूप रहते हैं, आत्मरूप नहीं होते; आत्मा से पृथक्रूप ही रहते हैं। भिन्न को भिन्न जाने तो सच्चा ज्ञान होता है; भिन्न को एक मानकर रखना चाहे तो अज्ञान से वह जीव दुःखी होता है; परंतु कहीं जड़ पदार्थ इसके होकर नहीं रहते। भिन्न हैं, वे त्रिकाल भिन्न हैं, कभी एक नहीं हुए। हे भव्य ! जड़ से भिन्न अपने

चेतनमय निजघर को अवलोकन कर... और उसी में निवास कर... अपने घर में प्रवेश करना महंगा कैसे होगा ? पशु भी खेत में काम करके शाम को थककर घर आयें, तब उत्साह से दौड़कर आते हैं, तो अनादि से परभाव में परिभ्रमण करके दु:खी हुआ आत्मा भेदज्ञान करके जब चैतन्यमय निजघर में आता है, तब उसकी परिणति आनंद से दौड़ती हुई निजघर में आती है। ऐसा ज्ञान-आनंदमय स्वघर बतलाकर आचार्यदेव उसमें प्रवेश करवाते हैं।

सिद्धत्व के हेतुभूत भावना

भगवान श्री यतिवृषभआचार्य रचित 'त्रिलोक प्रज्ञप्ति' नामक प्राचीन महान ग्रंथ में नौ अधिकारों द्वारा तीन लोक का वर्णन है, उसमें नीचे नरक से लगाकर, ऊपर सिद्धलोक तक का अनेक प्रकार से वर्णन किया है। उसमें सबसे अंतिम (नवें) अधिकार का नाम 'सिद्धलोक प्रज्ञप्ति' महा अधिकार है। इस अधिकार में सिद्ध संबंधी पाँच उप अधिकार हैं। (१) सिद्धभगवंतों की निवास भूमि (२) सिद्धभगवंतों की संख्या (३) सिद्धभगवंतों की अवगाहना और (४) सिद्धभगवंतों का सुख—ये चार बातें १७ गाथा द्वारा बतायी हैं, और पीछे 'सिद्धत्व के हेतुभूतभाव' का आनंदकारी वर्णन पाँचवें अधिकार में ४८ गाथा द्वारा किया है। त्रिलोक प्रज्ञप्ति जैसे करणानुयोग के ग्रंथ में भी सिद्धत्व के हेतुभूत, ऐसी उत्तम भावना पढ़कर पूज्य गुरुदेव को अति प्रमोद हुआ और श्रोताजनों के समक्ष भी इसका वर्णन किया था—जो सुनकर सबको हर्षोल्लास हुआ था—सिद्धत्व के हेतुभूत भावना से किसको आनंद न हो ? अत: वह आनंदकारी भावना यहाँ प्रस्तुत करते हैं।

ये शास्त्रकर्ता श्री यतिवृषभाचार्य धवल-जयधवल के टीकाकारों से भी प्राचीन हैं और

इस भावना-अधिकार में आई हुई बहुत कुछ गाथायें भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्य के समयसार-प्रवचनसार इत्यादि शास्त्रों की गाथाओं से लगभग मिलती-जुलती हैं—जैसे कि उनके शास्त्रों का दोहन करके ही यह भावना-अधिकार रचा गया हो—ऐसा लगता है। प्रो. हीरालाल जैन इस संबंध में लिखते हैं कि—'इस अंतिम अधिकार में वर्णित सिद्धों का वर्णन और आत्मचिंतन का उपाय (शुद्धात्म भावना)—यह जैन विचारधारा की प्राचीन संपत्ति है।' चलो, अपन भी अपने आत्मा के सिद्धत्व के हेतुभूत भावना भायें।

[त्रिलोक प्रज्ञप्ति अधिकार ९वाँ, गाथा १८ से ६५]

(१८) जैसे चिरसंचित ईंधन को हवा से प्रज्वलित अग्नि शीघ्र ही जला देती है, उसी तरह अनेक कर्मरूपी ईंधन को ध्यानरूपी अग्नि क्षणमात्र में जला देती है।

(१९) जो जीव दर्शनमोह और चारित्रमोह को नष्ट करके, विषयों से विरक्त हुआ, मन को रोककर आत्मस्वभाव में स्थिर होता है, वह मोक्षसुख को प्राप्त करता है।

(२०) जिसको राग-द्वेष-मोह तथा योग परिक्रम नहीं है, उसी को शुभाशुभ को भस्म करनेवाली ध्यानमय अग्नि उत्पन्न होती है।

(२१) शुद्धस्वभाव से सहित साधु को जो दर्शन-ज्ञान से परिपूर्ण ध्यान है, वह निर्जरा का कारण होता है; अन्य द्रव्यों से संसक्त ध्यान निर्जरा का कारण नहीं होता।

(२२) अंतरंग और बहिरंग सर्व संग से रहित, तथा अनन्यमान (अर्थात् एकाग्र चित्त) होकर जो अपने चैतन्यस्वभाव से आत्मा को जानता-देखता है, वह जीव आत्मिकचारित्र का आचरण करनेवाला है।

(२३) ज्ञान, दर्शन और चारित्र की भावना करनी चाहिये; और वह (ज्ञान-दर्शन-चारित्र) तीनों आत्मस्वरूप हैं, अत: हे भव्य! आत्मा की भावना कर।

(२४) मैं निश्चय से सदा एक, शुद्ध, दर्शन-ज्ञानात्मक और अरूपी हूँ; अन्य कोई भी परमाणुमात्र भी मेरा नहीं है।

(२५) मोह मेरा कुछ भी नहीं, मैं तो एक ज्ञान-दर्शन-उपयोगरूप ही हूँ—ऐसा जानता हूँ—ऐसी भावना से युक्त जीव दुष्ट अष्ट कर्मों को नष्ट करता है।

(२६) मैं परपदार्थों का नहीं हूँ, और परपदार्थ मेरे नहीं हैं; मैं तो अकेला ज्ञानस्वरूप ही हूँ—इसप्रकार जो ध्यान में चिंतन करता है, वह आठ कर्मों से मुक्त होता है।

(२७) चित्त शांत होते इन्द्रियों शांत होती हैं, और इन्द्रियाँ शांत होते ही आत्मस्वभाव में रति होती है, और उससे वह जीव स्पष्टतया-नियम से मोक्ष जाता है।

(२८) मैं देह नहीं, मन नहीं, वाणी नहीं, और उनका कारण भी नहीं—इसप्रकार का जो भाव है, वह शाश्वत स्थान को प्राप्त करता है। (अर्थात् ऐसी जो भावना भाता है, वह मोक्ष को प्राप्त होता है।)

(२९) देह की भाँति मन और वाणी पुद्गलद्रव्यात्मक परवस्तु है, ऐसा उपदेश दिया गया है, और पुद्गलद्रव्य, वह भी परमाणु द्रव्यों का पिण्ड है।

(३०) मैं, न तो पुद्गलमय हूँ और न मैंने उन पुद्गलों को पिण्डरूप किया है; अतः मैं देह नहीं हूँ, और न देह का कर्ता हूँ।

(३१) इसप्रकार ज्ञानात्मक, दर्शनभूत, अतीन्द्रिय महाअर्थ, नित्य, निर्मल और निरालंबन शुद्धात्मा का चिंतन करना चाहिये।

(३२) मैं परपदार्थों का नहीं हूँ, और पदार्थ मेरे नहीं हैं; मैं तो अकेला ज्ञानमय हूँ—इसप्रकार जो ध्यान में ध्याता है, वह जीव आत्मा का ध्याता है।

[देखो, यह सिद्धपद की हेतुभूत भावना चल रही है; इस भावना से मोक्षसुख प्राप्त होता है।]

(३३) इसप्रकार जानकर जो विशुद्ध आत्मा उत्कृष्ट आत्मा को ध्याता है, वह अनुपम अपार अतीन्द्रिय (अनंत चतुष्टयात्मक) सुख को प्राप्त करता है।

(३४) मैं परपदार्थों का नहीं हूँ, और परपदार्थ मेरा नहीं है, इस जगत में मेरा कोई भी नहीं है—इसप्रकार जो भावना भात है, वह संपूर्ण कल्याण को प्राप्त करता है।

(३५) इस ऊर्ध्व-अधो या मध्य लोक में कोई भी परपदार्थ मेरा नहीं है, इस जगत में मेरा कोई भी नहीं हैं; इस प्रकार जो भावना भाता है, वह संपूर्ण कल्याण को प्राप्त करता है।

(३६) जो जीव मद-माया-मान से रहित, एवं लोभ से रहित, व निर्मलस्वभाव से युक्त होता है, वह अक्षय स्थान पाता है।

(३७) देहादिक में जिसे परमाणुमात्र भी मूर्छा है, वह जीव, भले ही सर्व आगम का धारी हो तो भी स्वकीय-समय को नहीं जानता।

(३८) अतः मोक्षाभिलाषी जीवों को देह में किंचित् भी राग नहीं करना चाहिये। देह

से भिन्न, इन्द्रियातीत आत्मा का ध्यान करना चाहिये।

(३९) देह में स्थित, देह से किंचित् न्यून, देह से रहित शुद्ध (ज्ञानमय) देहाकार और इन्द्रियातीत आत्मा ध्यातव्य है।

(४०) जिसके ध्यान में ज्ञान द्वारा निजात्मा नहीं भासता, तो उसके ध्यान नहीं है; परंतु प्रमाद व मोहमूर्छा ही हैं, ऐसा जानना।

(४१) मोम से रहित साँचे के अंदर के आकाश जैसे आकारवाला, रत्नत्रयादि गुणों से युक्त, अविनश्वर और जीव घनदेशरूप—ऐसे निजात्मा का ध्यान करना चाहिये।

(४२) जो साधु नित्य उद्योगशील (उपयुक्त) होकर, इस आत्म भावना का आचरण करता है, वह अल्पकाल में ही सर्व दु:ख से मुक्त होता है।

(४३) कर्म-नोकर्म में 'यह मैं हूँ' और मैं—आत्मा कर्म-नोकर्मरूप हूँ—इसप्रकार की बुद्धि द्वारा प्राणी घोर संसार में घूमता है।

(४४) जो मोहकर्म का क्षय करके, तथा विषयों से विरक्त होकर, और मन को रोककर स्वभाव समवस्थित होता है, वह जीव कर्मबंधनरूप जंजीर से छूट जाता है।

(४५) जो प्रकृति-स्थिति-अनुभाग और प्रदेशबंध से रहित आत्मा है, वही मैं हूँ—ऐसा चिंतन करना चाहिये। तथा उस ही में स्थिर भाव करना चाहिये।

(४६) जो केवलज्ञान स्वभावी है, केवलदर्शन स्वभावी है, सुखमय है, और केवलवीर्य स्वभावी है—वही मैं हूँ—इसप्रकार ज्ञानी चिंतन करता है।

(४७) जो जीव सर्व संग से रहित होकर अपने आत्मा को अपने द्वारा ध्याता है, वह अल्प काल में सर्व दु:खों से छुटकारा पाता है।

(४८) जो भयानक संसाररूपी समुद्र में से निकलना चाहता है वह, इसप्रकार जानकर, शुद्धात्मा का ध्यान करता है।

(४९) प्रतिक्रमण, प्रतिसरण, प्रतिहरण, धारणा, निवृत्ति, निंदन, गर्हा और शुद्धि—इन सबकी प्राप्ति निजात्मभावना द्वारा ही होती है।

(५०) दर्शनमोह ग्रंथि का नाश करके जो श्रमण राग-द्वेष का क्षय करता हुआ सुख-दु:ख में समभावी होता है, वह अक्षय सुख को प्राप्त करता है।

(५१) देह और धन में 'यह मैं' और 'यह मेरा' ऐसे ममत्व को जो नहीं छोड़ता, वह

मूर्ख-अज्ञानी जीव दुष्ट-अष्ट कर्मों से बँधता है।

(५२) पुण्य से वैभव; वैभव से मद; मद से मतिमोह और मतिमोह से पाप होता है—अत: पुण्य को भी छोड़ना चाहिये।

(५३) जो परमार्थ से बाह्य है, वह जीव संसारगमन को और मोक्षहेतु को नहीं जानता हुआ अज्ञान से पुण्य की इच्छा करता है।

(५४) पुण्य और पाप में कोई भेद नहीं है—ऐसा जो नहीं मानता, वह मोह से युक्त होता हुआ, घोर और अपार संसार में भ्रमण करता है।

(५५) मिथ्यात्व, अज्ञान, पाप और पुण्य—उनका तीन प्रकार से त्याग करके, योगियों को निश्चय से शुद्धात्मा का ध्यान करना चाहिये।

(५६) जीव परिणामस्वभावरूप है, वह जब शुभ और अशुभ परिणामरूप परिणमता है, तब शुभ और अशुभ होता है, और जब शुद्ध परिणामरूप परिणमता है, तब शुद्ध होता है।

(५७) धर्मरूप परिणत आत्मा यदि शुद्धोपयोग युक्त हो तो निर्वाण सुख को प्राप्त होता है और यदि शुभोपयोग युक्त हो तो स्वर्गसुख को पाता है।

(५८) अशुभोदय से आत्मा कुमनुष्य, तिर्यंच या नारकी होकर, सदा हजारों दु:खों से पीड़ित होता हुआ संसार में अत्यंत भ्रमण करता है।

(५९) शुद्धोपयोग से प्रसिद्ध ऐसे अरिहंत और सिद्धों को अतिशय, आत्मा से समुत्पन्न, विषयातीत, अनुपम, अनंत और विच्छेदरहित सुख होता है।

(६०) रागादि संग से मुक्त ऐसे मुनि, अनेक भवों में संचित किये हुए कर्मरूपी ईंधन समूह को शुक्लध्यान नामक ध्यान द्वारा भस्म करते हैं।

(६१) हृदय में जब तक आत्मस्वभावलब्धि प्रकाशित नहीं है, तब तक ही जीव शुभ-अशुभ जनक ऐसे संकल्प-विकल्परूप कर्मों को करता है।

(६२) बंध के स्वभाव व आत्मा के स्वभाव को जानकर, जो बंध में अनुक्त नहीं होता वह जीव कर्मों से छूटता है।

(६३) जहाँ तक आत्मा और आस्रव—इन दोनों के विशेष अंतर को नहीं जानता, वहाँ तक वह अज्ञानी जीव विषयादि में प्रवृत्त रहता है।

(६४) ज्ञानी जीव अनेक प्रकार के पुद्गलद्रव्य को जानता होने पर भी वह

परद्रव्यपर्यायरूप नहीं परिणमता, उसे ग्रहण नहीं करता, और उसरूप नहीं उपजता है।

(६५) जो विमूढ़ मति परद्रव्यों को शुभ या अशुभ मानता है, वह मूढ़ अज्ञानी जीव दुष्ट अष्ट कर्मों से बंधता है।

सिद्धपद के हेतुभूत ऐसी यह उत्तम शुद्धात्मभावना भाने से मुमुक्षु जीव सिद्धपद को पाता है।

॥ णमो सिद्धांण ॥

परीक्षा कीजिए—यथार्थ है कि अयथार्थ ?

(१) एक सम्यग्दृष्टि जीव मरकर ज्योतिषी देवों का इंद्र हुआ।

(२) एक सम्यग्दृष्टि जीव मरकर दूसरी नरक में गया।

(३) एक सम्यग्दृष्टि जीव मरकर प्रथम नरक में गया।

(४) एक जीव ने तीर्थंकर प्रकृति का बंध किया, तदुपरांत तीसरी नरक में गया।

(५) एक जीव ने तीर्थंकर प्रकृति का बंध किया, तदुपरांत चतुर्थ नरक में गया।

(६) एक जीव छठवीं नरक से निकलकर मनुष्य हुआ और पीछे मुनि हुआ।

(७) एक जीव चौथी नरक से निकलकर, मनुष्य होकर, केवलज्ञान प्राप्त करके मोक्ष में गया।

(८) एक जीव आत्मा को पहिचानकर मुनि हुआ, और क्षपकश्रेणी में चढ़कर स्वर्ग में गया।

(९) एक जीव तीसरे गुणस्थान से मरकर देवलोक में देव हुआ।

(१०) भरतक्षेत्र का कोई जीव सीमंधर प्रभु के पास गया और क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त किया।

ज्ञानी की ज्ञान-वैराग्य शक्ति

(जिस शक्ति के बल से कर्म की निर्जरा होती है)

(समयसार कलश टीका : निर्जरा अधिकार के प्रवचनों से)

राग से भिन्न शुद्धात्मस्वरूप के अनुभवरूप भेदज्ञान द्वारा जिसने संवर किया है, उसे उग्र ज्ञानज्योति द्वारा पूर्व के कर्मों की निर्जरा हो जाती है। संवर-निर्जरा की दशा प्राप्त करके धर्मी जीव आनंदरूप होता है—मोक्ष को साधता है। सम्यग्दर्शन होते ही आत्मा में आनंद हुआ और संवर-निर्जरा शुरु हुई।

अहो! चैतन्य के आनंद का स्वाद चखा, वहाँ अब धर्मी जीव को रागादि के आकुलतारूप स्वाद के साथ जरा भी एकता नहीं होती, रागादि द्वारा उसका ज्ञान तनिक भी मूर्छित नहीं होता; अर्थात् रागादि के साथ उपयोग की एकतारूप आस्रव उसको नहीं होता। ज्ञानी की परिणति ज्ञान-वैराग्यमय हो गयी है, उसमें अब बंधन कैसा ? अहो ! ज्ञान-वैराग्य का कोई अद्भुत महात्म्य है कि ज्ञान को बंधन नहीं होता। उपयोग में एकतारूप ज्ञान और राग से भिन्नतारूप वैराग्य—ऐसे ज्ञान-वैराग्य सहित शुद्धात्मा का अनुभव होता है। उस पर्याय में कर्म का या राग का प्रवेश नहीं होता, कर्म के उदय आकर खिर जाते हैं परंतु बंध का कारण नहीं होते—ऐसा अनुभव का सामर्थ्य है।

अंतर की अनुभवदशा में तो ज्ञानी राग को या उसके फल को भोगता ही नहीं है, उससे विरक्त ही रहता है। वह बाह्य सामग्री के मध्य दिखायी भी दे, राग भी होता हो, परंतु अंदर की ज्ञानदशा में धर्मी को उस राग या सामग्री के साथ बिल्कुल संबंध नहीं है। उससे भिन्न मात्र ज्ञानपरिणतिरूप वर्तता है। वह परिणति कर्म का अभाव कर देती है।

जैसे अलिप्त स्वभाववाला कमल कीचड़वाले पानी से लिप्त नहीं होता, उसीप्रकार राग से अलिप्त ऐसा धर्मी का उपयोग है—वह कर्म से लिप्त नहीं होता। उपयोग में राग की चिकनाई नहीं है, अत: संयोग के मध्य में भी उसे बंधन नहीं होता। उस समय उसका उपयोग भी अलिप्त ही वर्तता है।

जैसे मंत्र का जानकार हो, वह सर्प से अपने को कटाये, तो भी मंत्रबल से जहर नहीं चढ़ता। वैसे ही धर्मों के पास भेदज्ञानरूपी अमोघ मंत्र ऐसा है कि कर्मफल के भोगनेरूपी विषयों का जहर उसे नहीं चढ़ता; क्योंकि अंदर में शुद्ध चिद्रूप के अनुभवरूपी मंत्र उसके पास मौजूद हैं; वह मंत्र विषयों में सुखबुद्धिरूपी जहर को (मिथ्यात्व को) जरा भी चढ़ने नहीं देता।

जिसप्रकार जीभ बिल्कुल लूखे स्वभावयुक्त है, अतः उसको चिकनापन चिपकता नहीं, उसी तरह शुद्ध चैतन्यरस का स्वाद चखनेवाली जीभ ऐसी लूखी है (राग के चिकनेपन बिना की है, वीतराग है) कि राग की चिकास उसको नहीं चिपकती, राग से ज्ञान भिन्न ही भिन्न, अलिप्त ही रहता है।

और जैसे सोने को जंग नहीं लगता, वैसे ही भेदज्ञानरूपी शुद्ध स्वर्ण को विकाररूप जंग नहीं लगता। शुभाशुभराग के समय भी ज्ञानी का ज्ञान उस-मय नहीं बन जाता, किंतु बिना जंग खाये शुद्धज्ञानरूप ही रहता है।

इस तरह (उपरोक्त चार दृष्टांत से) सम्यग्दृष्टि की परिणति ज्ञान-वैराग्यरूप है, ज्ञान-वैराग्य की ऐसी कोई उसकी अमोघ शक्ति है, कि जो उसे कर्म का बंधन नहीं होने देती, पर उदयागत कर्मों की निर्जरा कर देती है। इस तरह भेदज्ञान के बल द्वारा सम्यग्दृष्टि को निर्जरा ही हुआ करती है।

चैतन्य के आनंदरसरूप स्वाद के पास, ज्ञानी को विषयों का रस कैसे हो? चैतन्य के परम प्रेम के पास शुभराग का स्वाद भी ज्ञानी को नीरस लगता है। शुभराग और उसका फल दोनों जीव के स्वरूप ही नहीं हैं;—फिर अशुभ की तो बात ही क्या? नरक की घोर प्रतिकूलता के मध्य भी सम्यग्दृष्टि जीव उससे भिन्न अपने चैतन्य सुख का वेदन करता है। राग के वेदन में उसके उपयोग की एकता नहीं होती, चैतन्य सुख के वेदन में ही उसके उपयोग की एकता है, उस ही में उसकी प्रीति है। चैतन्य सुख के अलावा अन्य कहीं भी धर्मी को प्रीति नहीं है। अनुकूलता व प्रतिकूलता से पार (शुभ-अशुभ से पार) उसकी चैतन्य परिणति (कमल की भाँति, मंत्रवादी की भाँति, लूखे स्वभावमय जीभ की भाँति एवं स्वर्ण की भाँति—इन चार दृष्टांतों की भाँति) परभावों से बिल्कुल अलिप्त है, अतः वह कर्म से लिप्त नहीं होता परंतु मुक्त ही रहता है।

ज्ञान-वैराग्य संपन्न सम्यग्दृष्टि जीव को निर्जरा ही होती है। उसकी ज्ञान-वैराग्य शक्ति

कैसी है ? यह बताते हैं:—प्रथम तो ज्ञान अर्थात् शुद्धस्वरूप के अनुभवरूप जानपना और वैराग्य अर्थात् परद्रव्य और परभावों से भिन्नतारूप भेदज्ञान; ऐसा भेदज्ञान होते ही द्रव्यकर्म-भावकर्म व नोकर्म की ओर से विरक्त होकर ज्ञानपरिणति अपने शुद्ध स्वरूप की ओर झुकी है—ऐसी ज्ञान-वैराग्यशक्ति सम्यग्दृष्टि को नियम से होती है। ऐसी ज्ञान-वैराग्यरूप परिणति में कर्म के फल का भोक्तापन नहीं होता अर्थात् वे फल दिये बिना ही निर्जर जाते हैं।

धर्मी शुद्धस्वरूप को स्वज्ञेयरूप जानता है; रागादि को भिन्न परज्ञेयरूप जानता है; अतः उससे वह सदा विरक्त है। ऐसी सहज-वैराग्य परिणति ही धर्मी का सच्चा जीवन है। जिसको राग की रुचि है—राग के साथ उपयोग की एकता है, उसको सच्चा वैराग्य नहीं होता, वह तो राग ही में लीन है। राग और ज्ञान की भिन्नतारूप भेदज्ञान द्वारा ही सच्चा वैराग्य होता है। एवं ऐसा वैराग्यवंत जीव ही कर्मों से छूटता है।

'जीव रक्त बांधे कर्म को, वैराग्य प्राप्त ही मुक्त बने' (समयसार, गाथा १५०)

—इसमें उपरोक्त भेदज्ञान सहित वैराग्य की बात है। अकेले राग की मंदता करके वन में जाकर रहे परंतु अंदर तो शुभराग से कल्याण या कल्याण का सच्चा साधन मानकर उस ही में एकताबुद्धि रखता है तो वह जीव वैरागी नहीं कहलाता। वह तो रागी ही है। राग ही में लीन है, और जिसने शुद्धस्वरूप के अनुभवपूर्वक राग से अपनी भिन्नता जानी है, ऐसा सम्यग्दृष्टि जीव, बाह्य गृहवास में दिखाई दे, राग भी होता हुआ दिखाई दे, तो भी वह नियम से वैरागी है, राग में उसकी परिणति मग्न नहीं है, उसकी ज्ञानपरिणति राग से बिल्कुल भिन्न ही वर्तती है; राग के एक अंशमात्र को भी ज्ञान में नहीं मिलाती। इस तरह उसका ज्ञान राग से विरक्त है। अर्थात् धर्मी को ज्ञान और वैराग्य दोनों ही साथ-साथ वर्तते हैं।

सम्यग्दृष्टि कहाँ वर्तता है ?—तो कहते हैं कि वह अपने शुद्ध स्वरूप के अनुभव में ही वर्तता है, उस ही में अपना अस्तित्व है; बाह्य पदार्थों में तो रहता ही नहीं, राग में तो वह रहता ही नहीं, उससे तो वह भिन्न रहता है, विरक्त रहता है; उसमें एकरूप कभी भी नहीं होता।—ऐसे ज्ञान-वैराग्य के बल द्वारा धर्मी जीव को निर्जरा होती है; अशुद्ध परिणति छूटती जाती है और शुद्धता होती जाती है।

शुद्धस्वरूप के ज्ञान बिना अर्थात् शुद्धात्मा के अनुभव बिना सच्ची वैराग्य-परिणति नहीं होती। परंतु जहाँ ऐसा सच्चा ज्ञान हो, वहाँ राग से भिन्नतारूप वैराग्य अवश्य होता है। अतः

सम्यग्दृष्टि नियम से ज्ञान-वैराग्य संपन्न होता है। वह क्या करता है?—तो कहते हैं कि शुद्धस्वरूप का लाभ और परभावों का त्याग—उसका निरंतर भेदज्ञान द्वारा अभ्यास करता है। शुद्धस्वरूप के अनुभव का निरंतर अभ्यास करता है। समयसार नाटक में कहा है कि—

सम्यक्वंत सदा उर अंतर, ज्ञान वैराग्य उभय गुण धारै।
जासु प्रभाव लखे निज लक्षण, जीव अजीव दशा निरवारै॥
आतम अनुभव करिके ह्वै थिर, आप तरे अरु औरनि तारै।
साधि सुद्रव्य लहे शिवशर्म सु कर्म उपाधि व्यथा वमि डारै॥७॥

देखो, ऐसी सम्यग्दृष्टि की दशा है। निजलक्षण द्वारा जीव-अजीव की भिन्नता करता है। अज्ञान से जीव-अजीव के एकत्व की हठ थी-मिथ्यात्व था, वह मिटकर भेदज्ञान हुआ। वहाँ परद्रव्य से सर्वथा भिन्न ऐसी शुद्ध स्ववस्तु का लाभ हुआ। वह स्ववस्तु को राग से अत्यंत भिन्न साधकर मोक्षसुख को पाता है। वहाँ कर्मबंधन सर्वथा छूट जाता है। वह स्वयं तिरता है एवं अन्य पात्र जीवों को भी तिरने में निमित्त होता है। और ऐसी भिन्नता की समझ बिना जीव दु:खी होता है।

अरे जीव! अपने शुद्धस्वरूप के आनंदरस के स्वाद को पाने के लिये निरंतर उसका अभ्यास कर। अहो! अनुभवरस की मस्ती में धर्मी जीव जगत से परम उदास है। ऐसे अनुभवरस बिना बाह्य की आशा से अरे जीव! तू दर-दर भटका और दु:खी हुआ। भगवान! बाहर की आशा छोड़ और अंतर में अनुभवरस की ऐसी मस्ती चढ़ा कि वह रस कभी छूटे नहीं। धर्मी जीव को भेदज्ञान के बल से शुद्धस्वरूप के अनुभव की अद्भुत मस्ती चढ़ गई है, उसको राग से अत्यंत भिन्नता वर्तती है।—ऐसी अनुभवदशा के बिना संवर-निर्जरा या मोक्षमार्ग नहीं होता। अत: कहते हैं कि हे जीवो! ज्ञान और राग की भिन्नता की समझपूर्वक शुद्धस्वरूप के अनुभव का निरंतर अभ्यास करो।

सम्यग्दृष्टि को शुद्धात्मा के अनुभव से, नियमपूर्वक ज्ञान-वैराग्य ही होता है। उसकी परिणति तो राग से भिन्न पड़ गई है। इसलिये उसे बंधन नहीं होता है—ऐसा कहा। अब कोई मिथ्यादृष्टि जीव राग की रुचि में वर्तता होने पर भी, यदि ऐसा माने कि मुझे भी बंधन नहीं होता—तो वह जीव पापी है। फिर भले वह शुभराग में क्यों न वर्तता हो—तो भी मिथ्याबुद्धि के कारण वह पापी ही कहलायेगा।

शुद्ध चैतन्य विषय—कि जिसका स्वाद अत्यंत मधुर आनंदरूप है—वह जिसके अनुभव में नहीं आया, उसे अवश्य ही इन्द्रिय-विषयों के भोगों में सुखबुद्धि है, और वही पाप है। धर्मी के तो इन्द्रिय-विषयों में से ही परिणति छूट गई है और अंतर में अत्यंत मधुर चैतन्य के आनंद में एकाग्र हो गया है; वहाँ भोगों का राग तो उसे महा रोग के उपसर्ग समान लगता है, ऐसी परिणति के कारण धर्मी को भोग के समय भी निर्जरा ही होती है, और बंधन नहीं होता—परंतु यह तो अंतर के शुद्ध अनुभव का जोर है, उसके परिणाम तो रागरहित होने से अत्यंत लूखे हैं, अतः बंध का कारण नहीं होते।

परंतु जिसके परिणाम में शुद्ध स्वरूप का अनुभव तो है नहीं, और राग में अति लीनता से जिसके परिणाम चिकने हैं, वह तो दूसरे करोड़ों उपाय करे तो भी मिथ्यात्वादि पापों से बँधता है, अतः वह पापी है। फिर भले ही वह यों मान ले कि मैं सम्यग्दृष्टि हूँ और मुझे विषय-भोगों से भी बंधन नहीं होता, परंतु अंदर रुचि का रस है, अतः यह मिथ्यात्व जरूर बंध का कारण होता है।

ज्ञानी तो चैतन्य के आनंदरूप मीठे अमृत को पीता है। अज्ञानी बाह्य में सुख मानकर इन्द्रिय-विषयरूपी विष पीता है। पिये विष और यों माने कि मैं सुखी हूँ—तो वह मात्र भ्रांति ही है। भ्रांति से यों मानता है कि मुझे बंधन नहीं है—उससे कोई उसके चिकने बंधन नहीं छूट जाते। जेल में पड़ा व बेड़ी में बंधा पुरुष मूर्खता से यह माने कि मैं मुक्त हूँ—परंतु इससे वह उस जेल के बंधन से छूट नहीं जाता। उसीप्रकार चैतन्य की जिसे समझ नहीं, और मिथ्यात्व के चिकनेभावरूप जेल में पड़ा है, और विषयों में सुखबुद्धि से वर्तता है, तो भी भ्रांति से वह माने कि मुझे कर्मबंध नहीं होता—तो इससे कोई वह जीव कर्म से छूट नहीं जाता। मिथ्यात्व के चिकने परिणाम तो जरूर बंध के कारण होंगे।

चैतन्य वस्तु का जिसे वेदन नहीं, वह कर्म की सामग्री में मूर्छित हो जाता है। और जिसने चैतन्य सुख का स्वाद चखा है, वह कर्म की सामग्री में कभी मूर्छित नहीं होता, उसको तो वह रोग समान जानता है, अतः उसे बंधन नहीं होता। कर्म की सामग्री अर्थात् पाँच इन्दिय के विषयों की सामग्री तो दुश्मन की खड़ी की हुई सामग्री है।—उसका प्रेम धर्मी को कैसे हो? चैतन्य के प्रेम की तीव्रता में धर्मी को उसका स्वप्न में भी प्रेम नहीं होता, अतः उसे बंधन नहीं होता—ऐसा जानना चाहिए। उसे तो अतीन्द्रिय आनंदरस का रंग-उल्लास है, इसलिए राग का

रंग उतर गया है। राग का जिसको रंग है, अर्थात् जिसका उपयोग राग की एकता से रंगा हुआ है, वह तो कर्म-सामग्री में मग्न है, अत: पापी है, और उसको कर्मबंधन होता है। फिर भले वह कदाचित् शुभरागरूप आचरण में मग्न क्यों न हो, तो भी वह कर्म-सामग्री ही में मग्न होने से निंद्य ही है, उसे बंधन होता है। इसप्रकार सम्यग्दृष्टि व मिथ्यादृष्टि की परिणति में जो बड़ा अंतर है, उसे धर्मी ही जानता है। धर्मी-सम्यग्दृष्टि को बंधन नहीं होता, वह तो उसके अंतर की अद्भुत ज्ञान-वैराग्य शक्ति का प्रभाव है। ज्ञान-वैराग्य की अद्भुत शक्ति के कारण उसे बंधन नहीं होता।

आत्मा को कैसे समझें ?

प्रश्न:—आत्मा को स्वज्ञेय बनाने के लिये क्या करना ?

उत्तर:—आत्मस्वभाव की महिमा बढ़ाना और रागादि विभाव की महिमा को छोड़ना, स्वभाव और विभाव की मर्यादा का बारंबार विचार करना, उनकी भिन्नता को जानकर नित्य स्वभाव में एकत्व का और विभाव से भिन्नत्व का प्रयत्न करना। चैतन्य पूर्ण ज्ञानघन की महत्ता और विभाव की तुच्छता को समझना; क्योंकि जिसकी महत्ता समझे, उसमें एकाग्रता हुए बिना नहीं रहती, और जिसको तुच्छ समझे, उससे भिन्नत्व हुए बिना नहीं रहता। प्रारंभ से ही यह बात लक्ष में लेकर आत्मा को समझने का विशेष-विशेष प्रयत्न करना चाहिये। यही आत्मा को स्वज्ञेय बनाने का उपाय है।

मुनिदशा कैसी होती है ?

तथा

मुनिदशा के पहले ज्ञ-स्वभाव की प्रतीति कैसी होती है ? उसका वर्णन

(मोक्षप्राभृत, गाथा ९८ पर प्रवचन)

सम्यग्दर्शनरहित बाह्यलिंग तथा व्रतादि को निष्फल कहा है। सम्यग्दर्शनसहित का जो जिनलिंग अर्थात् मुनिदशा, वह महान पूज्य है, वह मोक्ष-साधन है। परंतु जो अपने को मुनि मनवाते हैं तथा मुनि का मूलगुण-दिगम्बरदशा आदि का पालन तो नहीं करते—ऐसे जीव जिनलिंग की विराधना करके मिथ्यादृष्टि हो जाते हैं; वे मुनि तो नहीं, परंतु मुनिमार्ग के विराधक हैं। आचार्यदेव कहते हैं कि भाई! मुनिपने का पालन नहीं कर सके तो उसकी भावना रखकर समझना चाहिये। सर्वज्ञ-वीतरागकथित यथार्थ श्रद्धा से भी तेरा सम्यक्त्व और मोक्षमार्ग बना रहेगा। परंतु जैनमार्ग के मुनिपने का स्वरूप ही विपरीत मानना, वह तो श्रद्धा का महान दोष है; मुनिपना न ले सके तथा सम्यक्श्रद्धा बराबर बनाये रखे तो उसे चारित्र का अल्पदोष होने पर भी वह मोक्षमार्ग में है। मुनिपने का बड़ा नाम धारण करके प्रतिज्ञा तोड़े, व्यवहार में भी अन्यथा परिणमन करे और कहे कि मुनिपना तो इस काल में ऐसा ही होता है तो वह जैनशासन की प्रणाली को बिगाड़ता है; आगम में जो कहा है, उसे भी वह नहीं मानता। वह विपरीत माने तो इससे कहीं जैनदर्शन का स्वरूप अन्य नहीं हो जाता, परंतु उसके आत्मा का अहित होगा।

अहो, मुनिदशा तो धन्य है, पूज्य है, इन्द्र तथा चक्रवर्ती भी उसका आदर करते हैं। सम्यग्दर्शनसहित स्वरूप में एकाग्र होकर जिसने मुनिदशा प्रगट की, वह तो धन्य है! वहाँ विकल्प की अत्यंत मंदता है, शरीर की ममता छूट गयी है, वहाँ शरीर पर वस्त्र धारण करने की वृत्ति ही नहीं उठती। वस्त्र लेने की वृत्ति उठे तो मुनिदशा नहीं होती, तथा यदि वहाँ मुनिदशा माने तो समकित भी नहीं होता। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को मोक्षमार्ग कहा, उसमें उससे विपरीत मिथ्यात्व का अभाव, राग का अभाव, तथा राग के निमित्तरूप वस्त्रादि का अभाव होता है।

जहाँ अतीन्द्रिय चैतन्य का उग्र स्पर्श-अनुभव किया, वहाँ इन्द्रियों का विषय जीतने में आता है। अतीन्द्रिय चैतन्य के स्पर्श से बाह्य स्पर्शेन्द्रिय का पूर्ण विषय जीत लिया है, अतः शरीर पर वस्त्र धारण की वृत्ति ही नहीं रहती। ऐसी निर्ग्रंथ मुनिदशा होती है।

अनादि मिथ्यादृष्टि जीव भी सम्यग्दर्शन प्राप्त करके उसी अंतर्मुहूर्त में सातवाँ गुणस्थान प्रगट करके मुनि होता है परंतु उसको निमित्तरूप तो निर्ग्रंथ द्रव्यलिंग ही होता है।—निमित्त ऐसा ही होता है। विपरीत नहीं होता, तो भी उस निमित्त के आश्रय से सातवाँ गुणस्थान या मुनिपना प्रगट हुआ है—ऐसा नहीं। मुनिपना अथवा सातवाँ गुणस्थान तो चैतन्य में उपयोग की लीनता से ही प्रगट हुआ है। वास्तव में पंच महाव्रत का विकल्प भी जहाँ मुनिदशा का कारण नहीं है, वहाँ शरीर को नग्नदशा की क्या बात? केवल बाह्य से लोगों ने मुनिपना मान लिया है, परंतु सम्यग्दर्शनरहित मुनिदशा नहीं होती। सम्यग्दर्शन के बाद भी जब तक वस्त्रादि के परिग्रह की वृत्ति होती है, तब तक मुनिदशा नहीं होती। चैतन्य में लीनता होने पर राग छूटता है, और राग छूटने पर निमित्त भी सहज छूट जाता है—ऐसा संबंध है। परंतु ऐसा नहीं है कि—वस्त्र छोड़ने की क्रिया आत्मा ने की। वस्त्र का त्याग हुआ, वह अजीव की क्रिया है, चारित्रदशा वह संवर-निर्जरारूप धर्मक्रिया है और राग, वह विभावक्रिया है, आस्रवतत्त्व है। जहाँ जितने अंश में सवंर-निर्जरादशा प्रगट हुई, वहाँ उतने अंश में रागादि-आस्रव छूट जाते हैं; और अजीव का संबंध अजीव के कारण छूट जाता है।

चिदानंदस्वभावी आत्मा स्वसन्मुखतारूप उत्पन्न होता हुआ रागादि का अकर्ता है, वह अकर्तापना अर्थात् ज्ञायकस्वभावपना समयसार में आचार्यदेव ने स्पष्ट समझाया है। जीव और अजीव सभी द्रव्य स्वयं अपनी ही पर्यायरूप उत्पन्न होते हैं; अपनी ही पर्याय में तन्मयरूप उत्पन्न होता हुआ ज्ञायकस्वभावी जीव अन्य द्रव्यों का अकर्ता ही है। सम्यग्दृष्टि जीव जानता है कि वस्तु का स्वरूप सर्वज्ञदेव ने जैसा देखा है, वैसा ही परिणमन करता है, उसमें अन्यथा नहीं होता। अहो, इसमें तो ज्ञानस्वभाव का निर्णय है, राग से भिन्न होकर ज्ञानस्वभाव की सन्मुखता का महान पुरुषार्थ इसमें रहा हुआ है, ज्ञान की दिशा स्व-की ओर उन्मुख होती है, तथा दिशा फिरने पर सारी दशा फिर जाती है। मैं तो ज्ञ-स्वभावी हूँ, पर में इष्ट-अनिष्ट मानना वृथा है। आत्मा के अनेक नामों में 'ज्ञ' ऐसा एक नाम है। 'ज्ञ' स्वभाव जिसको पूर्ण प्रगट हो गया, ऐसे सर्वज्ञ भगवान दिव्य ज्ञानसामर्थ्य से सर्व पदार्थों को साक्षात् जानते हैं। ऐसे ज्ञानस्वभाव को

स्वीकार किये बिना ऐसा नहीं कहा जा सकता कि ज्ञ-स्वभावी आत्मा को माना तथा ऐसा भी नहीं कहा जा सकता कि उसकी पूर्ण पर्याय को भी उसने माना, अतः सर्वज्ञ अरहंत को भी उसने वास्तव में नहीं माना। यदि सर्वज्ञ को पहिचाने तो ज्ञानस्वभावी आत्मा को अवश्य पहिचाने। इसलिए आचार्यदेव ने प्रवचनसार में कहा है कि—

जो जानता अरिहंत को, गुण द्रव्य अरु पर्याय से।
वह जीव जाने आत्म को, तसु मोह नष्ट अवश्य हो॥

सर्वज्ञ के द्रव्य-गुण-पर्याय को पहिचानने पर ज्ञ-स्वभावी आत्मा को जाना, उसका मोह नाश होकर सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। आत्मा के ज्ञ-स्वभाव को जब कोई आवरण नहीं रहा, तब उसका पूर्ण सामर्थ्य-सर्वज्ञत्व प्रगट हुआ। ज्ञान तो आत्मा का स्वभाव है, तथा उसे कोई आवरण नहीं तो फिर सर्व पदार्थों को जानने में उसे कौन रोक सकेगा? वह सर्व पदार्थों को क्यों नहीं जानेगा? वास्तव में ज्ञानस्वभाव की प्रतीति बिना केवलज्ञान की या सिद्धपद की प्रतीति नहीं होती; केवलज्ञान तथा सिद्धपद का धाम तो ज्ञानस्वभावी आत्मा है। अपने ज्ञानस्वभाव के सन्मुख होने से ही सर्वज्ञ तथा सिद्ध भगवंतों की वास्तविक प्रतीति होती है। समयसार में, स्वभाव सन्मुख होकर ज्ञानस्वभावी आत्मा को दृष्टि में-अनुभव में लिया, उसी को केवली भगवान की परमार्थ-स्तुति कही है।

अहो, आत्मा तो अनादि से ज्ञानस्वभाव ही है, सर्व आत्मा अनादि से ज्ञायकभावरूप ही अवस्थित हैं; परंतु अज्ञानी को विपरीत मान्यता के कारण वह विपरीतरूप अध्यवसित होता है। धर्मात्मा उसे जैसा है, वैसा प्रतीति में लेकर, उसके आधार से केवलज्ञान और सिद्धपद को साधता है। जहाँ ज्ञानस्वभाव के सन्मुख होकर उसकी प्रतीति की, वहाँ संवर-निर्जरा प्रगट हुई, आस्रव-बंध छूटने लगा, और वह मोक्ष का साधक हुआ; अजीव को पृथक् जाना।—इसप्रकार सात तत्त्वों की वास्तविक प्रतीति स्वभाव-सन्मुख हुआ, तभी हुई। अल्पज्ञानी तिर्यंच भी स्वानुभूति से सम्यग्दर्शन प्रगट कर सकते हैं; सम्यग्दर्शन के लिये ऐसी रोक नहीं कि बारह अंग का ज्ञान होना चाहिये। सम्यग्दर्शन में बारह अंग का सार समा जाता है। आत्मानुभव ही मोक्षमार्ग है; आत्मानुभवी को बारह अंग पढ़ने की कोई जरूरत नहीं। कोई जीव बारह अंग पढ़ा न हो तो भी आत्मानुभव में लीन होकर केवलज्ञान प्राप्त कर लेता है। मोक्ष का मार्ग आत्मानुभूति में ही समाविष्ट है।

मोक्ष के साधक मुनियों को २८ मूलगुण, एक ही समय भोजन, दिगंबरदशा आदि होते हैं, राग का इतना अभाव हो गया है कि २८ मूलगुण से विरुद्ध राग नहीं आता; मूलगुण संबंधी जो विकल्प है, वह कहीं धर्म नहीं है—ऐसा मुनि जानते हैं। परंतु यदि कोई स्वच्छंदी होकर, मुनि के मूलगुणों से भ्रष्ट होकर ऐसा माने कि हमको कहाँ रुकावट है ? हमको सम्यक्त्व तो है, फिर बाह्य मूलगुण बिगड़ें तो भले बिगड़ो, हम तो मोक्षमार्गी-मुनि हैं।—तो इसप्रकार माननेवाला जिन-आज्ञा से भ्रष्ट होकर, सम्यक्त्व का भी भंग करता है। वह स्वच्छंदता से अवश्य मिथ्यादृष्टि ही होता है। हे भव्य! मुनिपने का पालन न हो तो उसकी श्रद्धा रख, परंतु यदि अन्यथा मानकर जिन-आज्ञा का भंग करेगा तो प्रगट मिथ्यात्व होगा। सम्यग्दर्शन के बाद भी चारित्रवंत मुनिदशा बिना मोक्ष नहीं होता, अतः उसका स्वरूप बराबर पहिचानना चाहिये। सम्यग्दर्शनरहित मात्र बाह्य क्रियाकाण्ड से या व्रत से मुनिपना प्रगट हो जाये—ऐसा भी नहीं बनता। इसप्रकार सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मुनिदशा है, और वह मोक्षमार्ग है।

आध्यात्मिक पद

आपा नहीं जाना तूने कैसा ज्ञानधारी रे....
देहाश्रित करि क्रिया आपको मानत शिवमगचारी हरे...
निज-निवेद विन घोर परिषह विफल कही जिन सारी रे...
शिव चाहे तो द्विविध कर्म तैं कर निज परिणति न्यारी रे...
'दौलत' जिन निजभाव पिछान्यो तिन भव विपति विदारी रे...

छहढाला के रचयिता पंडित दौलतरामजी इस पद में कहते हैं कि—हे जीव! यदि तूने अपने आत्मा को नहीं जाना तो तू ज्ञानधारी कैसा ? देहाश्रित क्रियाओं के द्वारा तू अपने को मोक्षमार्गी मानता है—परंतु आत्मा को पहिचाने बिना मोक्षमार्ग कैसा ? अपने आत्मा के अनुभव के बिना घोर परीषह सहन करे तो भी वह सभी निष्फल है—ऐसा जिनदेव ने कहा है। इसलिये हे जीव! यदि तू मोक्ष की इच्छा रखता हो तो अशुभ या शुभ दोनों प्रकार के कर्मों से अपनी परिणति को हटा। शुभ-अशुभ परभावों से भिन्न ऐसा अपना निजभाव जिसने पहिचाना, उसने भव-भ्रमण की विपत्ति को छेद डाला है। इसलिये हे जीव, तू आत्मा को पहिचान।

ज्ञानमय दशा द्वारा ज्ञानी की पहिचान होती है

ज्ञानी अपने को ज्ञानभावरूप अनुभव करता है। ज्ञानभाव में इच्छा नहीं है, ज्ञानभाव में पुण्यादि की इच्छा नहीं है, इसलिए ज्ञानी पुण्य की इच्छा नहीं करता, ज्ञानी तो ज्ञानमय ही रहता है।

[समयसार, गाथा २१०]

शुभराग या पुण्य, वह आत्मा नहीं है, अर्थात् जिसको आत्मा की प्रतीति है, उसे उस राग की या पुण्य की पकड़ नहीं है, उसका परिग्रह भी नहीं है। आत्मा के ज्ञानस्वभाव को जिसने पकड़ा अर्थात् अनुभव में लिया, वह रागादिभावों को अपने स्वभावरूप किंचित् भी अनुभव नहीं करता, उनको अपने ज्ञानभाव से सर्वथा भिन्न जानता है।

ज्ञानस्वरूप आत्मा सहज सुखमय है, रागादिभाव आकुलता तथा दु:खमय हैं। आत्मा का जो ज्ञानमय भाव है, वह रागादि इच्छारूप नहीं; चैतन्यपरिणति का अंश भी इच्छा में नहीं; इसप्रकार इच्छा, वह ज्ञानमय भाव नहीं अर्थात् अज्ञानमय भाव है। धर्मी जीव उस पुण्य की इच्छा को भी अपने से भिन्न जानता है, अर्थात् ज्ञान के साथ इच्छा को एकमेक नहीं करता, किंतु उसको ज्ञान से रहित जानता है, ज्ञान से भिन्न जानता है, इसलिये वह अज्ञानमय है, ज्ञानमय नहीं।

देखो, ऐसे भेदज्ञान के बिना परभावों का परिग्रह नहीं छूटता तथा सच्ची निर्जरा नहीं होती। अज्ञानी इच्छा को (पुण्य-राग को) अपना स्वरूप भले ही माने, किंतु उससे कहीं वह इच्छा ज्ञानमय नहीं हो जाती। वह मिथ्याभाव से रागादि का परिग्रह करता है, इसलिये कर्मों से बँधता है। धर्मी जीव राग से भिन्न ऐसे चैतन्यभाव को ही स्वस्वामीरूप अनुभव करता है, उसके द्रव्य में-गुण में-पर्याय में कहीं भी राग नहीं। जो राग है, वह ज्ञान के स्व-रूप से नहीं है किंतु पररूप ही है। इसप्रकार राग से रहित जो शुद्ध उपयोग है, उस शुद्धता की वृद्धि का नाम निर्जरा है; शुद्धता की वृद्धि, अशुद्धता का नाश तथा कर्म का खिर जाना, इन तीनों बोलों का निर्जरा में एक साथ समावेश हो जाता है। ऐसी निर्जरा को अज्ञानी पहिचानता भी नहीं।

लोग पुण्य को धर्म मानते हैं, व्यवहार धर्म को ही सच्चा मान लेते हैं, इसलिये यहाँ पर

उसकी मिथ्या श्रद्धा का निषेध करने के लिये कहते हैं कि ऐसे पुण्यरूप धर्म की ज्ञानी इच्छा नहीं करता। जिसको व्यवहारधर्म कहा गया, अथवा लोग जिसको धर्म मानते हैं, ऐसे पुण्य के शुभभावों की पकड़ ज्ञानी को नहीं, पुण्य की इच्छा ज्ञानी को नहीं; ज्ञानी उन भावों को अपने ज्ञान से भिन्न जानता है। जिसको ज्ञान से भिन्न जाना, उसका स्वामित्व नहीं हो, उसकी इच्छा भी क्यों हो। इसलिये ज्ञानी को पुण्य की इच्छा नहीं; उनको वह परभावरूप जानकर छोड़ देता है।

एक ओर आत्मा का ज्ञानभाव दूसरी ओर उससे भिन्न सभी अज्ञानभाव। पुण्य का-शुभराग का भाव ज्ञानमय नहीं किंतु ज्ञान से भिन्न हैं। उस पुण्य के राग में चेतकपना नहीं। 'यह पुण्य है' इसप्रकार ज्ञान उसे जानता है; पुण्य को जाननेवाला ज्ञान स्वयं पुण्यरूप नहीं होता किंतु उससे भिन्न ही रहता है। ऐसे भिन्न ज्ञानस्वरूप ही धर्मी अपने को अनुभवता है। अर्थात् वह ज्ञानस्वभाव को ही स्व जानकर ग्रहण करता है, इसके अतिरिक्त अन्य सभी परभावों को पर जानकर छोड़ता है अर्थात् ग्रहण नहीं करता।—ऐसी शुद्धदशा से ज्ञानी को निर्जरा होती है, यही मोक्षमार्ग है।

चौथे गुणस्थान में आत्मा जानने में आया, अनुभव में आया, प्रतीति में आया—वह किसप्रकार आया? क्या शुभराग के द्वारा आत्मा का अनुभव होता है?—नहीं; शुभराग को तो अनात्मा कहा गया, अज्ञानमय कहा, उसके द्वारा आत्मा का ज्ञान नहीं हो सकता। उससे भिन्न ऐसे ज्ञान के शुद्ध उपयोग द्वारा आत्मा अनुभव में तथा प्रतीति में जाता है। चौथा गुणस्थान ऐसे भावों से प्रगट होता है; शुभराग से चौथा गुणस्थान प्रगट नहीं होता।

आत्मा प्रभु है। प्रभु अर्थात् स्वामी।—किसका स्वमी? किसका प्रभु?—क्या आत्मा राग का प्रभु है? नहीं, आत्मा तो ज्ञान का प्रभु है, आनंद का प्रभु है, ज्ञान-आनंद आदि अनंत गुणों के वैभव का स्वामी आत्मा है, वही आत्मा का प्रभुत्व है। ऐसे निज वैभव का स्वामित्व छोड़कर, जो जीव राग-द्वेष-मोहरूप अज्ञानभाव का स्वामी बनने जाता है, वही अज्ञानी है; अज्ञानभाव का स्वामी अज्ञानी होता है; ज्ञानी तो ज्ञानभावों का ही स्वामी है। जहाँ ज्ञानमय आत्मवस्तु लक्ष में आई, वहाँ विकल्प में-राग में एकत्वबुद्धि नहीं रह सकती। अनंत गुणभंडार का जो स्वामी हो गया, वह रागादि का स्वामी नहीं हो सकता। उसकी परिणति सदा ज्ञानमय है। उस-उस काल वर्तनेवाला राग या देह की क्रिया, उसमें ज्ञानी नहीं वर्तता; ज्ञानी तो उस समय भी अपने ज्ञानभाव में ही एकरूप वर्तता है; वह राग या जड़ की क्रिया के साथ कभी

एकरूप नहीं वर्तता किंतु उससे भिन्नरूप ही वर्तता है।

शुभराग के अनेक प्रकार हैं, उनमें कहीं भी 'ज्ञानपना' नहीं है, अर्थात् उसमें कहीं भी ज्ञानी को स्वपना नहीं है। जो अपनेरूप अनुभव में आवे, ऐसे एक ज्ञानभाव में ही ज्ञानी को 'स्वपना' है। आत्मा का ऐसा स्वानुभव ही मुख्य प्रमाण है। इसलिये पाँचवीं गाथा में ही आचार्यदेव ने कहा था कि इस शुद्ध एकत्व-विभक्त आत्मा को तुम अपने स्वानुभव से प्रमाण करना। स्व-संवेदनरूप स्वानुभव ही प्रत्यक्ष प्रमाण है; तथा ऐसे स्वानुभवपूर्वक ही सम्यग्ज्ञान होता है। आत्मा के स्वानुभव से रहित ज्ञान सच्चा नहीं होता। जहाँ राग के अनुभव में एकता है, वहाँ ज्ञानस्वरूप आत्मा का स्वानुभव नहीं होता। ज्ञानी ने जहाँ अपने आत्मा को-उपयोग-लक्षण द्वारा समस्त परभावों से भिन्न अनुभव किया, वहाँ राग के किसी अंश में, किसी पुण्य में, किसी शुभ विकल्प में उसको स्वपने की ग्रहणबुद्धि-अपनत्व की बुद्धि नहीं रहती—इसलिये ज्ञानी को पुण्यादि किसी भी परद्रव्य का या परभाव का परिग्रह नहीं है, उससे भिन्नता ही है। ऐसी भिन्नतारूप ज्ञानदशा के द्वारा ज्ञानी को निर्जरा ही होती है।

उपादेय-हेय और प्रयोजन

१— परम पारिणामिकभावरूप त्रैकालिक एकरूप द्रव्यसामान्य जिसको शुद्ध अंत:तत्त्व कहा है, वही शुद्धनय द्वारा नित्य आश्रय करने के अर्थ में उपादेय है।

२— संवर, निर्जरा और मोक्षरूप निर्मल पर्याय प्रगट करने के अर्थ में उपादेय है।

३— साधकभाव, बाधकभाव, स्व-पर आदि सब अपनी-अपनी भूमिकानुसार हैं, वे जाननेयोग्य हैं—ऐसे अर्थ में उपादेय हैं।

प्रयोजन में हेय-उपादेय की रीति—

उपादेय तो द्रव्य की शुद्धतारूप परिणमन करना। हेय तो अपनी पर्याय में जो अशुद्धता है, उसके अभावरूप श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र करना।

ज्ञेय तो परद्रव्य जीवादि सब हैं, उनके साथ हमारा ग्रहण-त्याग, हेय-उपादेय का संबंध नहीं है।

ज्ञान-गोष्ठी

प्रश्न—ज्ञानी को निद्रावस्था में भी आत्मा का ज्ञान रहता है ?

उत्तर—अहो, उसकी क्या बात ! ज्ञान तथा राग के भिन्न वेदन से जो भेदज्ञान हुआ, वह निद्रावस्था में भी ज्ञानी को वर्तता ही है, निद्रावस्था में भी उसको राग के साथ एकताबुद्धि का वेदन नहीं होता, चैतन्यभाव का राग से भिन्नरूप ही वेदन करता है। जो भिन्न है, वह हमेशा भिन्न है। ज्ञानी तो हमेशा ज्ञानरूप ही है। निद्रा के समय उसका ज्ञान कहीं निद्रायुक्त नहीं बन गया (अज्ञान नहीं बन गया), ज्ञान तो ज्ञानरूप जागृत ही रहता है।

प्रश्न—क्या जीव के निर्णय किये बिना अनादि से चली आनेवाली परद्रव्य के कर्तापने की बुद्धि दूर नहीं हो सकती ?

उत्तर—स्व-पर का तथा स्वभाव और विभाव का भेदज्ञान करेगा, तभी पर में कर्तापने की बुद्धिरूप अज्ञान दूर होगा। इसके अतिरिक्त वह दूर होगा नहीं। यही बात श्रीमद् राजचंद्रजी ने नीचे के शब्दों में समझायी है—

❀ चेतन जो निजभाव में कर्त्ता आप स्वभाव,
वर्ते नहिं निजभाव में कर्ता कर्मप्रभाव।

❀ छूटे देहाध्यास तो नहिं कर्ता तूं कर्म,
नहिं भोक्ता तूं तेहनो, अे ज धर्मनो मर्म।

❀ कर्ता भोक्ता कर्मनो विभाव वर्ते ज्यांय,
वृत्ति वही निजभाव में थयो अकर्ता त्यांय।

प्रश्न—क्रमबद्धपर्याय का निर्णय अर्थात् क्या ?

उत्तर—प्रत्येक द्रव्य तीनों काल अपनी क्रमनियमित पर्याय में परिणमन करता है, अर्थात् आत्मा पर की पर्याय का अकर्ता है तथा अपने ज्ञानमय परिणाम से परिणमन करता हुआ उन भावों का ही कर्ता है। इसप्रकार स्वसन्मुख होकर ज्ञानस्वभाव का तथा पर के अकर्तापने का निर्णय, वह क्रमबद्धपर्याय का सच्चा निर्णय है। जहाँ ज्ञानसवभाव की सन्मुखता नहीं हो, या अकर्तापने का निर्णय नहीं हो, वहाँ क्रमबद्धपर्याय का सच्चा निर्णय नहीं हो सकता।

जीवद्रव्य अपनी जीव पर्याय में तन्मयरूप परिणमन करता है, तथा अजीवद्रव्य अपनी अजीव पर्याय में तन्मयरूप परिणमन करता है—इसप्रकार दोनों की भिन्नता का भेदज्ञान करने से इनके मध्य कर्ताकर्मपने का क्रम छूट जाता है, उसी को क्रमबद्धपर्याय समझ में आ सकती है।

प्रश्न—धर्मद्रव्य स्वयं गति नहीं करता, तथापि अन्य को गति करने में निमित्त कैसे होता है ?

उत्तर—हाँ; जिसप्रकार पुस्तक स्वयं ज्ञान नहीं करती, तथापि वह ज्ञान करनेवाले को निमित्त तो होती है। उसीप्रकार धर्मास्तिकाय स्वयं गति नहीं करता, फिर भी गति करनेवाले को निमित्त तो होता है।

प्रश्न—मोक्ष कब होता है ?

उत्तर—सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की संपूर्ण आराधना करे तब।

प्रश्न—'आत्मदेव' की तुलना किसके साथ की गयी है ?

उत्तर—दर्पण के साथ—

जाने समस्त विश्व, झलके समस्त जहाँ,
दर्पण समान देव कैसा होगा ?

(जैन बालपोथी)

(शास्त्रों में इसके अतिरिक्त अन्य भी स्वर्ण, सूर्य इत्यादि अनेक पदार्थों की उपमा देकर आत्मा का स्वरूप समझाया है।)

प्रश्न—चार अक्षर का नाम है, यात्रा का यह धाम है, तथा प्रथम और दूसरे अक्षर में एक आनंददायक फूल का नाम रहा हुआ है, तीसरे और चौथे अक्षर में खाने की वस्तु रही हुई है.... तो यह नाम कौनसा ? ऐसा एक भाई ने प्रश्न किया है।

उत्तर—अपने आप ही ढूँढ लेना... याद न आये तो वासुपूज्य भगवान का जीवन याद कर लेना—उसमें आ जायेगा। (चम्पापुरी)

प्रश्न—सम्यग्दर्शन का मार्ग क्या ?

उत्तर—आत्मा की सच्ची निष्ठापूर्वक ज्ञानियों के सत्समागमसहित तत्त्वनिर्णय का अभ्यास, वह सम्यक्त्व का मार्ग है। विपरीतअभिप्रायरहित तत्त्वार्थों के श्रद्धान को भी सम्यक्त्व कहा गया है, परंतु यह तत्त्वश्रद्धान भी ज्ञानियों के सत्समागम से प्राप्त होता है। इसीलिए

सम्यक्त्व का मार्ग बतलाते हुए श्रीमद् राजचंद्रजी कहते हैं—

स्वच्छंद मत आग्रह तजी, वर्ते सद्गुरुलक्ष,
समकित तेने भाखियुं, कारण गणी प्रत्यक्ष।

प्रश्न—दो नयों में से कौन से नय से किसप्रकार मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है ?

उत्तर— व्यवहारनय इस रीत जान, निषिद्ध निश्चयनयहि से।
मुनिराज जो निश्चयनयाश्रित, मोक्ष की प्राप्ति करें॥२७२॥

समयसार की इस गाथा में तुम्हारे प्रश्न का उत्तर समाया है। उसका अर्थ जानने अथवा विस्तार से समझने के लिये इस गाथा पर पूज्य स्वामीजी के प्रवचन पढ़ना... वे बहुत सुंदर हैं (समयसार बंध अधिकार पर प्रवचन, पांचवीं पुस्तक) आचार्यदेव कहते हैं कि निश्चयनय शुद्ध आत्मा के स्वद्रव्य-आश्रित है, इसलिये उसका आश्रय करनेवाले जीव अवश्य मोक्ष को प्राप्त करते हैं तथा व्यवहारनय परद्रव्य आश्रित है, इसलिये उसका आश्रय करनेवाले कभी मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकते।

प्रश्न—आहारकशरीर क्या है ? वह किसको होता है ?

उत्तर—छठवें गुणस्थानवाले किसी मुनि को आहारकशरीर होता है। (सभी को नहीं होता।) जिसको आहारकलब्धि प्रगट हुई हो, ऐसे मुनि को कभी सूक्ष्म तत्त्व संबंधी शंका हो अथवा तीर्थंकर के पंचकल्याणक आदि देखने या ढाईद्वीप में तीर्थयात्रा की भावना हो तो ऐसे प्रसंग पर उनके मस्तक से से एक हाथ का पुरुषाकार स्फटिक जैसा और परम सुंदर पुतला निकलता है, इसको आहारकशरीर कहा जाता है; इसके द्वारा वह मुनिराज तीर्थंकरादिक के दर्शन, यात्रा तथा शंका का समाधान कर लेते हैं; अंतर्मुहूर्त में वह पुतला वापस आकर मूल शरीर में जहाँ से निकला, वहीं समा जाता है। (किसी समय आहारकयोग में साधु का स्वर्गवास भी हो जाता है।) इस शरीर के निमित्त से मुनि अपनी शंका को (आहरति) दूर करते हैं, तथा सूक्ष्म अर्थ को (आहरति) ग्रहण करते हैं, इसलिये इसको 'आहारक' कहा जाता है।

प्रश्न—सच्चे ज्ञान का मार्ग कौन सा है ?

उत्तर—ज्ञानी की उपासनापूर्वक भेदज्ञान का अभ्यास...

प्रश्न—लोकाकाश की सीमा बतलानेवाले कौन से द्रव्य हैं ?

उत्तर—धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय दोनों द्रव्य। जीवादि पाँचों द्रव्य के समूह

जहाँ तक दृष्टि में आयें-दिखाई दें, उतना लोकाकाश, शेष अलोकाकाश है। अलोक सर्वथा शून्य नहीं है, वहाँ केवल आकाश है।

प्रश्न—अलोकाकाश में प्रकाश होता है या अंधकार ?

उत्तर—अंधकार अथवा प्रकाश कुछ भी नहीं होता, क्योंकि वह अरूपी है। अंधकार तथा प्रकाश यह तो रूपी-पुद्गल की पर्याय है।

प्रश्न—हम अलोक में जा सकते हैं ?

उत्तर—वहाँ हम नहीं जा सकते; किंतु यहाँ बैठे-बैठे केवलज्ञान के द्वारा उसको जान सकते हैं।

सूक्तियाँ

— जिसप्रकार बहता हुआ जल-प्रपात पत्थरों को चीरता हुआ अपने श्रोतसागर में पहुँचता है, उसीप्रकार साधक कठिन परिस्थितियों में से गुजरता हुआ लक्ष्य की ओर अग्रसर होता है।

— संसारी मोही प्राणी सबको चलते हुए भी स्थिर मानते हैं और अपने नित्य-परिणामी तत्त्व को भूलते रहते हैं।

— सर्वज्ञ वीतराग कथित शुद्ध परंपरा से विनयवान की विद्या विकसित होती है।

— सम्यग्ज्ञान अपने में सर्व समाधान करनेवाला है।

धर्मी अपनी आत्मवस्तु को कैसी जानता है ?

'धर्मी को ज्ञानमय ऐसे एक ज्ञायकभाव का ही सद्भाव है' अर्थात् 'जो ज्ञायकभावरूप अनुभव में आनेवाली वस्तु है, वह मैं हूँ'—ऐसा धर्मी जानता है। ऐसे ज्ञायकभाव के सद्भाव में रागादि परभावों का अभाव है। ऐसे आत्मा के अनुभव से ही संसार के दु:खों से छूटकर जीव आत्मा की शांति को प्राप्त करता है। बाह्य वस्तु का सुख अर्थात् पुण्य का सुख, वह वास्तविक सुख है ही नहीं, उसमें तो पराधीन आकुलभाव तथा दु:ख है। भगवान आत्मा जो ज्ञानानंद स्वरूप का सागर है, उसके स्वाधीन अनुभव से जो सुख अनुभव में आता है, वही सच्चा निराकुल सुख है, वही आत्मा का जीवन है।

स्व-पर की भिन्नता जिसने नहीं पहिचानी, ज्ञान तथा इच्छा की भिन्नता जिसने नहीं जानी, उसको इच्छा रहित ऐसे अपने स्वभावसुख का वेदन कहाँ से होगा ? वह तो ज्ञान के साथ इच्छा को मिलाकर अज्ञान का ही अनुभव करता हुआ दु:खी होता है। ज्ञानभाव का ही अपनेरूप अनुभव करता है, वह ज्ञानी कहलाता है; राग को, इच्छा को या आहार-पानी को अपना मानता हे, उसको ज्ञानी कौन कहेगा ?

धर्मी की जो ज्ञानपर्याय है, वह आत्मा की ओर झुकती है, तथा जो रागादि भाव हैं, वे तो बाहर झुकते हैं। राग तथा आत्मा परस्पर तन्मय नहीं होते। राग के अभाव में आत्मप्राप्ति होती है। राग न हो तो उससे कहीं आत्मा का अभाव नहीं हो जाता; आत्मा का जीवन ही—आत्मा का अस्तित्व ही राग रहित है। आत्मा का जीवन तो ज्ञानमय है, राग के समय भी ज्ञानस्वरूप है। राग तो ऊपर के छिलके जैसा है, अंदर चैतन्यसत्व शुद्ध ज्ञानमय है, उसको ध्येय बनाना चाहिये। उसको ध्येय बनाकर जो धर्मी हुआ, वह रागादि से पृथक् हो गया, वह अब राग की इच्छा नहीं करता, पुण्य की इच्छा नहीं करता, अपने एक चैतन्यभाव के अतिरिक्त अन्य किसी भी भाव को धर्मी अपनेरूप नहीं देखता, उनको अपने से भिन्नरूप ही देखता है।

अहो, राग से भिन्न ऐसा ज्ञानमय निजपद ही अनुभव में लेने जैसा है, इस चैतन्य पद का स्वाद महान आनंदस्वरूप है, ऐसे आनंदमय निजपद में आत्मा का निवास है; अपने में दृष्टि करो, इतना विलंब है। अंतर के निजपद में दृष्टि लगाने से अपूर्व आनंदरस का स्वाद आता है,

आनंद के झरने झरते हैं। ऐसे चैतन्यरस के अतिरिक्त अन्य तो सभी अपद हैं, परपद हैं, उनमें कहीं भी अपना सुख नहीं है।

जो ज्ञान का सेवन नहीं करता तथा राग का ही सेवन करता है, उसको ज्ञानभाव की उत्पत्ति कहाँ से हो सकती है? उसको तो रागमय अज्ञानभाव ही होते हैं। ज्ञानी तो राग तथा ज्ञान को अत्यंत भिन्न जानकर ज्ञान का ही सेवन करता है, इसलिये उसके सभी भाव ज्ञानमय ही हैं। ऐसे ज्ञानमय वीतरागी भाव, उसका नाम धर्म है। चौथे गुणस्थान में सम्यग्दृष्टि को ऐसा ज्ञानमय वीतरागी भाव होता है, इसके अतिरिक्त अन्य किसी परभाव का परिग्रह उसको नहीं होता; उसे वह जानता है किंतु पकड़ता नहीं है; 'यह मेरा भाव है' ऐसी बुद्धि नहीं, किंतु उसको पररूप जानता है; मैं तो ज्ञान हूँ तथा यह परभाव मेरे ज्ञान से बाहर हैं—ऐसी भिन्नता को वह जानता है। ऐसे भेदज्ञान के बल से आत्मा की शुद्धि तथा कर्मों की निर्जरा होती है।—इसका नाम धर्म है तथा यही मोक्षमार्ग है।

सन् १९७१ की जनगणना के समय धर्म के
खाना नं० १० में 'जैन' लिखाकर सही आँकड़े
इकट्ठा करने में सरकार की मदद करें॥

धर्म-प्रभावना के समाचार

सोनगढ़—परमोपकारी पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी सुख-शांति में विराजमान हैं। सवेरे समयसारजी शास्त्र पर तथा दोपहर को पंचास्तिकाय पर प्रवचन नियमितरूप से हो रहे हैं। दोपहर को पूज्य स्वामीजी के प्रवचन से पूर्व श्री रामजीभाई का इष्टोपदेश पर प्रवचन उनके निवासस्थान पर होता है। पूज्य स्वामीजी का विहार निश्चित कार्यक्रम के अनुसार माघ कृष्णा ३० तारीख ६-२-७० को हो रहा है। श्री नवनीतभाई सी. जवेरी अध्यक्ष श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट तारीख १७-१-७० को बम्बई से यहाँ आये हैं और तारीख ६-२-७० तक पूज्य गुरुदेव के सत्समागम का लाभ लेंगे। विहार का संक्षिप्त कार्यक्रम इस अंक में दिया गया है। जिसमें श्री सिद्धवरकूट का प्रोग्राम स्थगित करके खंडवा के प्रोग्राम में २ दिन बढ़ाये गये हैं।

❀ ❀ ❀

श्री ब्रह्मचारी दीपचंदजी पिछले ४ महीने से महाराष्ट्र में धार्मिक प्रचार कर रहे हैं। जलगाँव के बाद पारोला, कुंथलगिरि, कूम, बार्शी, करमाला, कुर्डुवाडी, मोडलिंब, करकंब, टेमुर्णी, इन्दापुर, उस्मानाबाद, परली आदि अनेक नगरों से धर्मप्रचार के समाचार आये हैं। आपने अनेक नगरों में पुरुषों एवं महिलाओं के लिये अलग-अलग स्वाध्याय-मंडलों की स्थापना उन-उन नगरों के प्रमुख व्यक्तियों द्वारा करवायी है। करमाला नगर में अच्छी जागृति आयी है; अजैन लोग भी रुचिपूर्वक भाग लेते हैं। जैनधर्मशिक्षण कक्षाएँ, शास्त्रसभा, तीर्थयात्रा की रंगीन फिल्म, तथा शंका-समाधान आदि द्वारा लोगों में धार्मिक रुचि जागृत हो रही है। माननीय श्री नवनीतलाल जवेरी द्वारा 'लघु जैन सिद्धांत प्रवेशिका' एवं 'सम्यग्दर्शन' की मराठी प्रतियाँ भी जहाँ आवश्यकता हो, वहाँ वितरित की जाती हैं। कुंथलगिरि सिद्धक्षेत्र में धार्मिक शिविर का आयोजन सफलता से हुआ। करीब ४०० मुमुक्षुओं ने भाग लिया था।

—हीरालाल धनजीभाई गाँधी

❀ ❀ ❀

श्री ब्रह्मचारी रमेशचंद्र करीब ४ महीने से उत्तरप्रदेश तथा मध्यप्रदेश में धर्म-प्रचारार्थ भ्रमण कर रहे हैं। आपने पृथ्वीपुर, आगरा, एत्मादपुर, मुर्शिदाबाद, जसवंतनगर तथा आसपास के नगरों में अच्छा प्रचार किया है, सर्दी के कारण कुछ अस्वस्थ हो गये हैं। आगरा से शिरपुर (अंतरिक्ष पार्श्वनाथ), कारंजा, वासीम, जलगाँव, खंडवा, मलकापुर आदि जानेवाले हैं। अब उन्हें बुलाने के लिये तीन महीने तक कोई आमंत्रण-पत्र न भेजें—ऐसा ब्रह्मचारी रमेशचंद्रजी लिखते हैं।

—ब्रह्मचारी गुलाबचंद जैन

श्री मोक्षशास्त्र (तत्त्वार्थसूत्र) प्रकाशन संबंधी

विज्ञप्ति

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट ने श्री मोक्षशास्त्र (तत्त्वार्थसूत्र) की तृतीय आवृत्ति प्रकाशित करने का विचार किया है। परंतु पर्याप्त संख्या में आर्डर आ जाने पर ही ग्रंथ छपाया जायेगा।

प्रत्येक नगर के मुमुक्षु मंडलों के अध्यक्ष महानुभावों से निवेदन है कि आपके मंडल को जितनी प्रतियों की आवश्यकता हो, वह हमें तुरंत सूचित करें। कोई अग्रिम राशि भिजवाने की आवश्यकता नहीं है, परंतु इस बात की गारंटी दें कि आपका मंडल आपके द्वारा सूचित प्रतियाँ अवश्य खरीद लेगा।

प्रेषक-

साहित्य-प्रकाशन समिति

दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट

सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

—: पूज्य श्री कानजीस्वामी का प्रवास-कार्यक्रम :—

[पूज्य गुरुदेव के मंगल-प्रवास का कार्यक्रम यहाँ संक्षिप्तरूप में दिया जा रहा है:-]

सोनगढ़ से प्रस्थान करके राजकोट तारीख ६-२-७० माघ कृष्णा ३०

जामनगर : तारीख ७ से १२ (माघ शुक्ला १ से ६)

जसदण : तारीख १३-१४ जैतपुर : तारीख १५-१६-१७

गोंडल : तारीख १८ से २०

जोरावरनगर : (तारीख २१), अहमदाबाद (तारीख २२), पालेज (तारीख २३), सोनगढ़ व्यारा (तारीख २४), धूलिया (तारीख २५), एदलाबाद (तारीख २६), आकोला (तारीख २७)

कारंजा : (तारीख २८ फरवरी से १ मार्च)

शिरपुर : (अंतरिक्ष पार्श्वनाथ) तारीख २ से ९ मार्च,
(पंचकल्याणक प्रतिष्ठा फाल्गुन सुदी दोज तारीख ९ को होगी।)

जलगांव : तारीख १० से १५ मार्च (वेदी-प्रतिष्ठा फाल्गुन सुदी छट्ठ तारीख १३ मार्च)

मलकापुर : तारीख १६ से १९ (फाल्गुन सुदी ९ से १२)

खंडवा : तारीख २० से २३ रतलाम : तारीख २४ से २५

दाहोद : तारीख २६-२७ अहमदाबाद : तारीख २८-२९

वढवाण : तारीख ३०-३१

राजकोट : अप्रैल तारीख १ से १५ (चैत्र कृष्णा १० से चैत्र सुदी ९)

मोरबी : तारीख १६-१७ (चैत्र सुदी १०-११)

वांकानेर : तारीख १८-१९ (चैत्र सुदी १२-१३)

लाठी : तारीख २०-२१

सावरकुंडला : तारीख २२ से २५

कानातलाव : तारीख २६ से २९ (वेदी प्रतिष्ठा वैशाख कृष्णा ८ तारीख २९ को)

लाठी : तारीख ३०

भावनगर : १ से ८ मई (पंचकल्याणक प्रतिष्ठा वैशाख सुदी तीज तारीख ८-५-७०)

सोनगढ़ में आगमन वैशाख सुदी ४, तारीख ९-५-७०

— श्री अंतरिक्ष पार्श्वनाथ दिगंबर जैन तीर्थ—

शिरपुर (आकोला)

पूज्य व प्राचीन तीर्थ जीर्णोद्धार महोत्सव अंतर्गत—

श्री जिनबिंब पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव

समस्त दिगम्बर जैन समाज की, सेवा में निवेदनः—

अनेक वर्षों बाद इस परमपूज्य अतिशय क्षेत्र पर प्रथम बार ही यह महोत्सव मनाया जा रहा है। इस महोत्सव का मुख्य उद्देश सामाजिक संगठन, जागृति, तथा ऐतिहासिक व सांस्कृतिक पुरातन तीर्थक्षेत्रों के प्रति रुचि व जागृति निर्माण करना तथा धार्मिक प्रभावना यह है। इस महोत्सव के लिये भारतवर्ष के समस्त दिगम्बर जैन समाज के गणमान्य प्रतिनिधियों को तथा अखिल भारतवर्षीय तीर्थक्षेत्र कमैठी के सारे प्रतिनिधियों को आमंत्रित किया गया है। सोनगढ़ से आत्मार्थी सत्पुरुष श्री कानजीस्वामी ने ससंघ पधारने की स्वीकृति दी है। तथा आपकी ही छत्रछाया में यह पुनीत महोत्सव मनाया जायेगा।

यह महोत्सव फाल्गुन कृष्णा ८वीं दिनांक १ मार्च १९७० से फाल्गुन शुक्ला २ दिनांक ९ मार्च १९७० तक मनाया जावेगा। समस्त समाज से प्रार्थना है कि इस अपूर्व अवसर पर पधारकर धर्मप्रभावना में सहयोग दें और धर्मलाभ प्राप्त करें।

श्री जन्मकल्याणक का जन्माभिषेक एक हजार आठ (१००८) कलशों द्वारा संपन्न होगा। इनमें १०८ कलशों की बोली समय पर होगी। शेष जिन-जिन भाईयों की यह मंगलमय अभिषेक-कलश लेने की भावना हो, वे शीघ्रातिशीघ्र अपना पूर्ण नाम, पता व कलशों की संख्या सूचित करें।

विनीत—

श्री जिनबिम्ब पंचकल्याणक प्रतिष्ठा-महोत्सव समिति

शिरपुर

पत्र-व्यवहार का पता—

श्री कार्यवाह, श्री जिनबिम्ब पंचकल्याणक

प्रतिष्ठा-महोत्सव समिति

ठिकाना-**श्री अं.पा. दिगम्बर जैन संस्थान,** मु.पो. शिरपुर

जिला—आकोला (महाराष्ट्र)

विश्वतत्त्वों का सत्यस्वरूप सम्यक् अनेकांत द्वारा बतलाकर सच्चा समाधान, एवं अपूर्व शांति का उपाय दर्शानेवाले—

सुरुचिपूर्ण प्रकाशन

१	समयसार	(प्रेस में)
२	प्रवचनसार	४.००
३	समयसार कलश-टीका	२.७५
४	पंचास्तिकाय-संग्रह	३.५०
५	नियमसार	४.००
६	समयसार प्रवचन (भाग-४)	४.००
७	मुक्ति का मार्ग	०.५०
८	जैनसिद्धांत प्रश्नोत्तरमाला भाग-१	०.७५
	" " " भाग-२	१.००
	" " " भाग-३	०.५०
९	चिद्विलास	१.५०
१०	जैन बालपोथी	०.२५
११	समयसार पद्यानुवाद	०.२५
१२	द्रव्यसंग्रह	०.८५
१३	छहढाला (सचित्र)	१.००
१४	अध्यात्म-संदेश	१.५०
१५	नियमसार (हरिगीत)	०.२५
१६	धर्म के संबंध में अनेक भूलें	बिना मूल्य
१७	अष्ट-प्रवचन	१.५०
१८	मोक्षमार्गप्रकाशक (ढूंढारी भाषा में) (सस्ती ग्रंथमाला दिल्ली)	२.२५
१९	पण्डित टोडरमलजी स्मारिका	१.००
२०	अपूर्व अवसर-प्रवचन	१.५०
२१	बालबोध पाठमाला, भाग-१	०.४०
२२	बालबोध पाठमाला, भाग-२	०.५०
२३	बालबोध पाठमाला, भाग-३	०.५५
२४	वीतरागविज्ञान पाठमाला, भाग-१	०.५०
२५	वीतरागविज्ञान पाठमाला, भाग-२	०.६५
	पाँच पुस्तकों का कुल मूल्य	२.६०
२६	लघु जैन सिद्धांत प्रवेशिका	०.२५
२७	सन्मति संदेश (पूज्य श्री कानजीस्वामी विशेषांक)	०.५०
२८	मंगल तीर्थयात्रा (गुजराती-सचित्र)	६.००

प्राप्तिस्थान :

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट,

सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट सोनगढ़ के लिये प्रकाशक एवं मुद्रक :

मगनलाल जैन, अजित मुद्रणालय, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)